दो शब्द

लोक सेवियों को कैसा होना चाहिए, कैसा उनका आचरण होना चाहिए, ताकि वे आदर्श लोककनायक बन सकें, यह परम पूज्य गुरुदेव अपनी लेखनी के माध्यम से अपने जीवन काल में ही बड़ा स्पष्ट कह गये। इस संदर्भ में उनके निर्देश अखण्ड ज्योति के 'अपनों से अपनी बात' स्तम्भ में तथा अलग से लिखे गये आलेखों के रूप में कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शनार्थ छपते रहे हैं।

परम पूज्य गुरूदेव द्वारा लिखी उस सामग्री को यहाँ पर आत्मीय परिजनों के आग्रहवश पुस्तकाकार में पुन: प्रकाशित किया जा रहा है, ताकि मिशन के परिजन परम पूज्य गुरुदेव के विचारानुकूल अपने जीवन को, लोकसेवी के व्यावहारिक स्वरूप की कसौटियों पर खरे उतारने के लिए, तैयार कर सकें।

आज वैचारिक प्रदूषण के कारण विभिन्न संगठनों में पदों की आपा-धापी और सामाजिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत लालसाओं को महत्व देने की विडम्बनाएँ चारों ओर दिखाई देती हैं। ऐसी स्थिति में पूज्य गुरूदेव के विचार लोकसेवियों को आध्यात्मिक अनुशाासन में रहकर, अनर्थकारी विडम्बनाओं से बचते हुए, श्रेष्ट संवेदनाओं के आधार पर संघबद्ध रहकर कार्य करने का श्रेष्ठ मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। यह दिशा-निर्देश लोकहित में प्रवृत्त हर संगठन के प्रत्येक कार्यकर्त्ता के लिए समान रूप से लाभदायक है।

परम पूज्य गुरूदेव चाहते रहे हैं कि कार्यकर्त्ता विधोयात्मक ही सोचें और चिन्तन को जीवन में उतारते हुए आत्म संतोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह के त्रिविध दुर्लभ लाभ प्राप्त करें। इन सूत्रों का अनुसरण करते हुए कार्यकर्त्तागण राष्ट्र निर्माण और युग निर्माण के महान् उद्देश्यों में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हुए दुर्लभ श्रेय के अधिकारी बन सकते हैं।

विदाई की घड़ियों में उभरी
पूज्य गुरुदेव की भाव संवेदना

पूज्य गुरुदेव द्वारा यह लेख सम्पादकीय के रूप में जनवरी ६९ में तब लिखा गया था जब उन्होंने घोषणा कर दी थी कि अब वे मथुरा न रहकर सबसे विदा लेकर जीवन के अगले अध्याय में प्रवेश कर रहे हैं। आज भी ये पंक्तियाँ हम सबको उस ममत्व की स्मृति दिलाती हैं, जिसने यह विराट गायत्री परिवार बनाया है। उनके निर्मल हृदय से उभरी दिव्य स्नेह की तंरगों के स्पन्दनों का अनुभव करने वाले साधक विराट् आत्मीय भाव का रस पा सकते हैं और विरासत में उसे स्वीकार करने वाले परिजन दिव्य जीवन के अधिकारी बन सकते हैं।

*आयु की दृष्टि से हमें अब लगभग ६० वर्ष पूरे करने जा रहे हैं। हमारे सांसारिक जीवन में एक बड़ा विराम यहीं लग जाता हैं। एक छोटे नाटक का यहीं पटाक्षेप है। दो वर्ष में कुछ ही अधिक दिन शेष हैं जब हमें अपनी ये सभी हलचलें बन्द कर देनी पड़ेंगी, जिनकी सर्वसाधारण को जानकारी बनी रहती है। इसके उपरान्त क्या करना होगा, इसकी सही रूपरेखा तो हमें भी मालूम नहीं है पर इतना सुनिश्चित है कि यदि आगे भी जीना पड़ा तो उसने सर्वसाधारण का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होगा।

* ऐसा विचित्र और कष्टकर निर्णय हमें स्वेच्छा से नहीं करना पड़ा है वरन् इसके पीछे एक विवशता है। अब तक का सारा जीवन हमने एक ऐसी सत्ता के इशारे पर गुजरा है जो हर घड़ी हमारे साथ है। हमारी हर विचारणा और गति-विधि पर उसका नियंत्रण है। बाजीगर की उँगलियों से बँधे हुए धागों के साथ जुड़ी हुई कठपुतली तरह-तरह के अभिनय करती है। देखने वाले इसे कठपुतली की करतूत मानते हैं, पर असल में वह बेजान लकड़ी का एक तुच्छ-सा उपकरण मात्र है। खेल तो बाजीगर की उँगलियाँ करती हैं। हमें पता नहीं, कभी कोई इच्छा निज के मन में बिना उनकी प्रेरणा से उठी है क्या? कोई क्रिया अपने मन से की है क्या? जहाँ तक स्मृति साथ देती है अपना एक ही क्रम-एक ही ढर्रे परन लुढ़कता चला आ रहा है कि हमारी मार्गदर्शक शक्ति जिसे हम गुरुदेव के नाम से स्मरण करते हैं, जब भी जो निर्देश देती रही है बिना ननुनच किये कठपुतली की तरह सोचने और करने की हलचलें करते रहे हैं।

* पिछले और अगले दिनों की कभी तुलना करने लगते हैं, तो लगता है छाती फट जाएगी और एक हूक पसलियों को चीर कर बाहर निकल पड़ेगी। कोई अपनी चमड़ी उधेड़कर भीतर का अन्तरंग परखने लगे तो उसे माँस और हड्डियों में एक ही तत्त्व उफनता दृष्टिगोचर होगा-वह है असीम प्रेम। एक ही रस हमने चखा है और वह है प्रेम का। यों सभी में हमें अपनापन और आत्मभाव प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है पर उनके प्रति तो असीम ममता है जो एक लम्बी अवधि में भावनात्मक दृष्टि से हमारे अति समीप रहते रहे हैं।

* ज्ञान और वैराग्य की पुस्तकें हमने बहुत पढ़ी हैं। माया, मोह की निरर्थकता पर बहुत प्रवचन सुने हैं। संसार मिथ्या है, कोई किसी का नहीं-सब स्वार्थ के हैं आदि-आदि। ब्रह्मचर्चा में भी सम्मिलित होने का अवसर मिला है। यदा-कदा उन शब्दों को दूसरों के सामने दुहराया भी है। पर अपनी दुर्बलता को प्रकट कर देना ही भला है कि हमारी मनोभूमि में अभी तक भी वह तत्त्व-ज्ञान प्रवेश नहीं करता है; न कोई पराया दीखता है और न कहीं माया का आभास होता है, जिससे विलग, विरत हुआ जाय। जब अपनी ही आत्मा दूसरों में जगमगा रही है तो किससे मुँह मोड़ा जाय? किससे नाता तोड़ा जाय? जो हमें नहीं भुला पा रहे हैं, उन्हें हम कैसे भूल जायेंगे? जो साथ घुले और जुड़े हैं उनसे नाता कैसे तोड़ लें? कुछ भी सूझ नहीं पड़ता। पढ़ा हुआ ब्रह्मज्ञान रत्ती भर भी सहायता नहीं करता। इन दिनों, बहुत करके रात में जब आँख खुल जाती है तब यही प्रसंग मस्तिष्क में घूम जाता है। स्मृति पटल पर स्वजनों की हँसती-बोलती मोह-ममता से भरी एक कतार बढ़ती उमड़ती चली आती है। सभी एक से एक बढ़कर प्रेमी, सभी एक से एक बढ़कर आत्मीय, सभी की एक से एक बढ़कर ममता। इस स्वर्ग में से घसीट कर हमें कोई कहाँ लिये जा रहा है? क्यों लिये जा रहा है? इन्हें छोड़कर हम कहाँ रहेंगे? कैसे रहेंगे? कुछ भी तो सूझ नहीं पड़ता। आँखे बरसती हैं और सिरहाने रखे वस्त्र गीले होते रहते हैं।

* इन दिनों हमारी आन्तरिक स्थिति कुछ ऐसी है जिसका विश्लेषण कर सकना हमारे लिए कठिन है। हमारी व्यथा, वेदना कष्ट से डरने की, परीक्षा में काँपने की अथवा मोह-ममता न छोड़ सकने वाले अज्ञानी जैसी लगती भर है वस्तुत: वैसी है नहीं। डर या कायरता की मंजिल पार हो चुकी। सुख-सुविधा की इच्छा के लिए अब मरने के दिनों की गुंजायश भी कहाँ रही? शौक-मौज की आयु ढल गई। अब तो कोई और न सही अपना जरा-जीर्ण शरीर भी पग-पग पर असुविधाएँ उत्पन्न करेगा। ऐसी दशा में सुविधाओं की कामना, असुविधाओं की अनिच्छा भी रोने-कलपने का कारण नहीं है। कारण एक ही है, हमारी भावुकता और छलछलाते प्यार से भरी मनोभूमि। जिनका रत्तीभर भी स्नेह हमने पाया है, उनका बदला पहाड़ जैसा प्रतिदान के लिए मन मचलता रहता है।

* जिनने हमारी कुछ सेवा सहायता की है, उनकी पाई-पाई चुका देंगे। न हमें स्वर्ग जाना है और न मुक्ति लेनी है। चौरासी लाख योनियों के चक्र में एक बार भगवान् से प्रार्थना करके इसलिए प्रवेश करेंगे कि इस जन्म में जिस-जिस ने जितना-जितना उपकार हमारा किया हो, जितनी सहायता की हो, उसका एक-एक कण ब्याज सहित हमारे उस चौरासी लाख चक्र में भुगतान करा दिया जाये। घास, फूल, पेड़, लकड़ी, बैल, गाय, भेड़, आदि बन कर हम किसी न किसी के कुछ काम आते रह सकते हैं और इससे अपने उपकारियों के अनुदान का बदला पूरे, अधूरे रूप में चुकाते रह सकते हैं। सद्भावना का भार ही क्या कम है जो किसी की सहायता का भार और ओढ़ा जाय? यह सुविधा भगवान् से लड़-झगड़कर प्राप्त कर लेंगे, पर जिनने समय-समय पर ममता भर प्यार हमें दिया है, हमारी तुच्छता को भुलाकर जो आदर, सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, स्नेह एवं अपनत्व प्रदान किया है, उनके लिए क्या कुछ किया जाय, समझ में नहीं आता। इच्छा प्रबल है कि

अपना हृदय कोई बादल जैसा बनादे और उसमें प्यार का इतना जल भर दे कि जहाँ से एक बूँद स्नेह की मिली हो, वहाँ एक प्रहर की वर्षा कर सकने का सुअवसर मिल जाय। मालूम नहीं ऐसा सम्भव होगा कि नहीं, यदि सम्भव न हो सके तो हमारी अभिव्यंजना उन सभी तक पहुँचे, जिनकी सद्भावना किसी रूप में हमें प्राप्त हुई हो। वे उदार सज्जन अनुभव करें कि उनके प्यार को भुलाया नहीं गया वरन् उसे पूरी तरह स्मरण रखा गया।

* हमारे मन की व्यथाएँ बहुत हैं। उनका समाधान क्या हो सकता है कौन जाने? पर अपने इस आन्तरिक उद्वेग की घड़ियों में यह भी अच्छा ही है कि हम जी खोलकर अपनी बात कह लें और परिजनों को बता सकें कि हम क्या सोचते और चाहते हैं-कहते हुए विदा हो सकें।

* विदाई के दिन समीप आते जा रहे हैं, हमारी भावनाओं में उतनी ही तेजी से उफान आता चला जा रहा है। बार-बार जो हूक और ऐंठन कलेजे में उठती है उसका कारण यदि कोई दुर्बलता हो सकती है तो एक ही हो सकती है कि जिनको प्यार किया, उनको समीप पाने की अभिलषा भी सदा बनी रही।

* प्यार के धागों को इस तरह तोड़ना पड़ेगा, इसकी कभी कल्पना भी न की थी। आने-जाने की बात बहुत दिन से कही सुनी जा रही थी। उसकी जानकारी भी थी, पर यह पता न था कि प्रियजनों के बिछुड़ने की व्यथा कितना अधिक कचोटने वाली-ऐंठने परोड़ने वाली होती है।

* अपनों से छिपाया क्या जाय? अब हम अपने अंतर की हर घुटन व्यथा और अनुभूति को अपनों के आगे उगलेंगे, ताकि हमारे अन्तर का भार हल्का हो जाय और परिजनों को भी वास्तविकता का पता चल जाय। आत्मकथा तो कैसी लिखी जा सकेगी, पर जो अन्तर्द्वन्द्व घुमड़ते हैं, उन्हें तो बाहर लाया ही जा सकता है। इसे सुनने से सुनने वालों को मानवी सत्ता के एक पहलू समझने का अवसर मिलेगा।

* किसी ने हमें विद्वान्, किसी ने तपस्वी, किसी ने तत्त्वदर्शी, किसी ने यांत्रिक, किसी ने लोकसेवी, किसी ने प्रतिभा पुञ्ज आदि कुछ भी समझ हो, हम अपनी आँखें और अपनी समझ में केवल मात्र एक अति सहृदय, अति भावुक और अतिशय स्नेही प्रकृति के एक नगण्य से मनुष्य मात्र रहे हैं।

* प्रेम के व्यापार में घाटा किसी को नहीं रहता, फिर हमें ही नुकसान क्यों उठाना पड़ता? नुकसान एक ही रहा है कि सोचने में न आया, स्नेह का तन्तु जितना मधुर है, वियोग की घड़ियों में वह उतना ही तीखा बन जाता है।

* स्नेह में दूरी बाधक नहीं होती, आत्मीयता शरीर से नहीं, आत्मा से होती है-यदि तत्त्वदर्शन हमने पढ़े तो बहुत हैं, दूसरों को सुनाये भी हैं पर उनका प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकना कितनी भी ऊँची स्थिति पर पहुँचे व्यक्ति के लिए कितना सम्भव है, यह कभी सोचा न था। लगता है अभी अपनी आत्मिक प्रगति नगण्य भी है।

* स्नेहियों के स्नेह और अनुग्रहियों के अनुग्रहों का कितना ऋण भार लेकर विदा होना पड़ रहा है, यह सोच कर कभी-कभी बहुत कष्ट होता है। अच्छा होता जन्म से कहीं एकान्त में चले गये होते।

* सोचते तो बहुत रहे, स्वप्न बड़े-बड़े देखते रहे, अमुक के लिए यह करेंगे, अमुक को यह देंगे। पर किया जा सका और दिया जा सका, वह इतना कम है कि आत्मग्लानि होती है और लज्जा से सिर नीचा हो जाता है।

* एक इच्छा अवश्य मन में थी कि असीम स्नेह बरसाने वालें स्वजनों के लिए प्रतिदान में जो कुछ अपने भीतर बाहर और कुछ शेष बच रहा है, उसे राई रत्ती देकर जाते और सबके चरणों की धूल सिर पर रखकर कहते-'इस नगण्य से प्राणी से अभी इतना ही बन पड़ा। ८४ लाख योनियों में यदि विचरण करना पड़ा, तो हर शरीर को लेकर आप लोगों की सेवा में उपलब्ध प्रेम और सहकार का कुछ न कुछ ऋण-भार चुकाने के लिए अतिश्रद्धा के साथ उपस्थित होते रहेंगे और जिस शरीर से जितनी सेवा सहायता बन पड़ेगी, जितनी कृतज्ञता और श्रद्धा व्यक्त कर सकने की क्षमता रहेगी, उसका पूरा-पूरा उपयोग आपके समक्ष करते रहेंगे।'

* हम अज्ञान ग्रस्त, मोह-बन्धन में बँधे प्राणी अपना दूरवर्ती हित वहीं समझते, वह शक्ति समझती है और जिसमें हमारा परिवार और हमारे समाज, धर्म एवं विश्व का कल्याण है, उसी को करने जा रहे हैं।

* अपना मन कितना ही इधर-उधर क्यों न होता हो, यह निश्चित है कि हमें ढाई वर्ष बाद निर्धारित तपश्चर्या के लिए जाना होगा। यों यह मृत्यु जैसी स्थिति है, पर संतोष इतना ही है कि वस्तुत: ऐसी बात होगी नहीं।

* वियोग की घड़ियों में भी सन्तोष केवल इस बात का है कि दूसरे लोग भले ही शरीर समेत हमसे मिल न सकें पर जिन्हें अभीष्ट है, उनके साथ भावनात्मक सम्बन्ध यथावत बना रहेगा वरन् सच पूछा जाय तो और भी अधिक बढ़ जायगा।

* हमारा अपना आन्तरिक ढाँचा एक विचित्र स्तर का बन चुका है और उसे आग्रहपूर्वक वैसा ही बनाए रहेंगे। सहृदयता, ममता, स्नेह, आत्मीयता की प्रवृत्ति हमारे रोम-रोम में कूट-कूट कर भरी है। यह इतनी सरस व सुखद है कि किसी भी मूल्य पर इसे छोड़ने की बात तो दूर, घटाना भी सम्भव न हो सकेगा।

* तृष्णा और वासना से छुटकारा पाने का नाम हम मुक्ति मानते रहे हैं सो उसे प्राप्त कर चुके। उच्च आदर्शों के अनुरूप जीवन पद्धति बनाए रहने, दूसरों में केवल अच्छाई देखने और सबमें अपनी ही आत्मा देखकर असीम प्रेम करने की तीन धाराओं का संयुक्त स्वरूप हम स्वर्ग मानते हुए हैं, सो उसका रसास्वादन चिरकाल से हो रहा है। अब न स्वर्ग जाने की इच्छा, है न मुक्ति पाने की।

* ऐसा वैराग्य जिसमें स्नेह सौजन्य से, अनन्त आत्मीयता से वंचित होना पड़े, हमें तनिक भी अभीष्ट नहीं। हमारी ईश्वर भक्ति पूजा-उपासना से आरम्भ होती है, और प्राणी मात्र को अपनी ही आत्मा के समान अनुभव करने और अपने ही शरीर के अंग, अवयवों की तरह अपनेपन की भावना रखते हुए अनन्य श्रद्धा चरितार्थ करने तक व्यापक होती जाती है।

* जिनका स्नेह-सद्भाव, सहयोग, अनुग्रह अपने ऊपर रहा है, उनकी ओर से तनिक भी मुख मोड़ा जाय, उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा अपनाई जाय, कोई कृतघ्न ही ऐसा सोच सकता है।

* रोटी ने नहीं, भावभरी आत्मीयता के अनुदान जहाँ-तहाँ से हमें मिल सके हैं, उन्हीं ने हमारी नस-नाड़ियों में जीवन भरा है और उसी के सहारे हम इस विशाल संघर्ष से भरे जीवन में जीवित रह सकने और कुछ कर सकने लायक कार्य करने में समर्थ रहे हैं।

* लोगों की आँखों से हम दूर हो सकने हैं पर हमारी आँखों से दूर न होगा। जिनकी आँखों में हमारे प्रति स्नेह और हृदय में भावनाएँ हैं, उन सबकी तस्वीरें हम अपने कलेजे में छिपाकर ले जायेंगे और उन देव प्रतिमाओं पर निरन्तर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाया करेंगे।......... लोग हमें भूल सकते है, पर हम अपने किसी स्नेही को नहीं भूलेंगे।

* कोई माता विवशता में कहीं चली जाती है तो चलते समय अपने बच्चों को बार-बार दुलार करती, बार-बार चूमती, लौट-लौटकर देखती और ममता से भरी आँखें आँचल से पोंछती आगे बढ़ती है। ऐसा ही कुछ उपक्रम अपना ही बन रहा है। सोचते हैं, जिन्हें अधूरा प्यार किया अब उन्हें भरपुर प्यार कर लें। जिन्हें छाती से नहीं लगाया, जिन्हें गोदी में नहीं खिलाया, जिन्हें पुचकारा-दुलारा नहीं, उस कमी को अब पूरा कर लें। किसी को कुछ अनुदान, आर्शीवाद देना अपने हाथ में न हो तो दुलार देना तो अपने हाथ में है ही।

* अब आने वाली विषम घड़ियाँयों एक बारगी कलेजे को कपड़ा निचोड़ने की तरह ऐंठती है और अनायास ही रुलाई से कण्ठ भर देती हैं, फिर भी इसके पीछे कोई विवशता नहीं। महान् उद्देश्य के लिए, लोकमंगल के लिए, नव-निर्माण के लिए, तिल-तिल करके अपने को गला देने में हमें असीम सन्तोष, अपार आनन्द और उच्चकोटि का गर्व है।

* कोई चमड़ी उधेड़ कर देख सके तो भीतर माता का हृदय लगा मिलेगा, जो करुणा, ममता, स्नेह और आत्मीयता से हिमालय की तरह निरन्तर गलते रहकर गंगा-यमुना बहाता रहता है।

* प्रतिफल और प्रतिदान की आशा किए बिना हमारा भावना प्रवाह तो अविरल जारी ही रहेगा। परिजनों से परिपूर्ण स्नेह-यही इन पिछले दिनों का हमारा उपहार है, जिसे कोई भुला सके तो भुला दे। हम तो जब तक मस्तिष्क में स्मति और हृदय में भावना का स्पन्दन विद्यमान है, आजीवन उसे याद ही रखेंगे।

* हर किसी को विश्वास रखनी चाहिए कि और कुछ हमारे पास हो चाहे न हो असीम प्यार भरी ममता से हमारा अन्त:करण भरा-पूरा अवश्य है जिसने हमें तिल भर प्यार किया है उसके लिए अपने मन से ताड़ बराबर ममता उमड़ी है। लम्बी अवधि से जिनके साथ हँसते, खेलते और प्यार करते चले आ रहे हैं उनसे विलग होने की बात सोच कर हमारा मन भी गाय-बछड़े के वियोग की तरह कातर हो उठता है। कई बार लगता है छाती में कुछ हूल रहा है। यह वियोग कैसे सहा जायेगा। जिसकी कल्पना मात्र से दिल बैठ जाता है, उस असहाय को सहन करने में कितना बोझ पड़ेगा? और कहीं उस बोझ से यह टूटा खचड़ा चरमरा कर बैठ तो नहीं जायेगा ऐसी आशंका होती है।

* प्रिय जनों के विछोह की कल्पना न जाने क्यों कलेजे को मरोड़ डालती है। ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से यदि इसे मानवीय दुर्बलता कहा जाय तो हमें अपनी यह त्रुटि स्वीकार है। आखिर एक नगण्य से तुच्छ मानव ही तो हम हैं। कब हमने दावा किया है योगी-यती होने का।

* प्यार करना सीखने और सिखाने में सारी जिन्दगी चली गई। यदि कोई धन्धा किया है तो एक मँहगी कीमत देकर प्यार खरीदना और सस्ते दाम पर उसे बेचना। इस व्यापार से लाभ हुआ या घाटा उसका हिसाब कौन लगाये?

* यों मरना अभी देर में है, पर जब परस्पर मिलने-जुलने और हँसने-खेलने, सुनने और समझने की सुविधा न रही, एक-दूसरे से दूर-समीप के आन्नद से वंचित रहकर जीवित भी रहे, तो यह आनन्द उल्लास जिसे पाने का आदी यह मन बन चुका है, कहाँ मिल सकेगा?

* जिनके असीम स्नेह जलाशय में स्वछन्द मछली की तरह क्रीड़ी कल्लोल करते हुए लम्बा जीवन बिता चुके अब उस जलाशय से विलग होने की घड़ी भारी तड़पन उत्पन्न करती है।

* शरीर-साधन और श्रम के द्वारा विभिन्न कार्यों में सहायता करने वाले भी कम नहीं रहे हैं, पर उनकी संख्या और भी अधिक है जो भावभरी आत्मीयता के साथ अपनी श्रद्धा, ममता और सद्भावना हमारे ऊपर उड़ेलते रहे हैं। सच पूछा जाय तो यही वह शक्ति स्त्रोत रहा है, जिसे पीकर हम इतना कठिन जीवन जी सके हैं।

* जिसने कोई प्रत्यक्ष अनुदान नहीं दिया, उन पाषण प्रतिमाओं के चरणों में आजीवन मस्तक झुकाते रहे हैं तो क्या उन देवियों और देवताओं की प्रतिमायें हमारी अराध्य नहीं रह सकतीं, जिनकी ममता हमारे ऊपर समय-समय पर बरसी और प्राणों में सजीवता उत्पन्न करती रही है।

* सहेलियों से बिछुड़ते हुए और पति के घर जाते हुए जिस तरह किसी नव-वधू की द्विधा मन:स्थिति होती है, लगभग वैसी ही अपनी है और रूँधा कण्ड एवं भावनाओं के उफान से उफनता अन्त:करण लगभग उसी स्तर का है।

* रात को बिना कहे चुपचाप पत्थर की तरह चल खड़े होने का साहस अपने में नहीं, इस स्तर का वैराग्य अपने को मिला नहीं। इसे सौभाग्य, दुर्भाग्य जो भी कहा जाय कहना चाहिए।

* अपनी सभी सहेलियों से एक बार छाती से छाती जुड़ाकर मिल लेने और अपने अब तक के साथ-साथ हँस-खेलकर बड़े होने की स्मृतियों को ताजा कर, फफक-फफक कर रो लेने में लोक उपहास भले ही होता हो, पर अपना चित हल्का हो जायेगा, सो ही हमसे बन पड़ रहा है-......... सन्त, ज्ञानी वैरागी, ब्रह्मवेत्ता के लिए इस प्रकार की वेदना, आशोभनीय हो सकती, है, पर हम उस स्तर के हैं कहाँ?

* लोग प्यार करना सीखें। हममें, अपने आप में, अपनी आत्मा और जीवन में, परिवार में समाज में और ईश्वर में, दसों-दिशाओं में प्रेम बिखेरना और उसकी लौटती प्रतिध्वनि का भाव-भरा अमृत पीकर धन्य हो जाना, यही जीवन की सफलता है।

* हमारी अन्त:स्थिति कुछ ऐसी है कि जिनका रत्तीभर भी स्नेह हमें मिला है, उनके प्रति पर्वत जितनी ममता सहज ही उमड़ती है......जो हमें श्रद्धा, सद्‌भावना, आत्मीयता एवं ममता की दृष्टि से देखते हैं, देखेंगे, प्यार करते हैं, प्यार करेंगे, उनसे विमुख नहीं हो सकते। उनके साथ भरी सम्पर्क किसी न किसी रूप में बनाये रहना है।

अपने अंग अवयवों से

(एक बार इसे नित्य पढ़े)

सूक्ष्मीकरण साधना के दौरान नैष्ठिक कार्यकर्त्ताओं के लिए पूज्य गुरूदेव द्वारा लिखा गया एक विशेष निर्देश पत्र

यह मनोभाव हमारी तीन उँगलियाँ मिलकर लिख रही हैं। पर किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि जो योजना बन रही है और कार्यान्वित हो रही है, उसे प्रस्तुत कलम, कागज, या उँगलियाँ ही पूरी करेंगी। करने की जिम्मेदारी आप लोगों की, हमारे नैष्ठिक कार्यकर्त्ताओं की है।

इस विशालकाय योजना में प्रेरणा ऊपर वाले ने दी है। कोई दिव्य सत्ता, बात या लिखा रही है मष्तिष्क और हृदय का हर कण-कण जर्रा-जर्रा उसे लिखा रहा है। लिखा ही नहीं रहा है, वरन् उसे पूरा कराने का ताना-बाना भी बुन रहा है। योजना की पूर्ति में न जाने कितनों का, कितने प्रकार का मनोयोग और श्रम, समय, साधन आदि का कितना भाग होगा। मात्र लिखने वाली ऊँगलियाँ न रहें या कागज कलम चुक जाये तो भी कार्य रूकेगा नहीं। क्योंकि रक्त का प्रत्येक कण और मष्तिष्क का प्रत्येक अणु उसके पीछे काम कर रहा है। इतना ही नहीं, वह दैवी सत्ता भी सतत सक्रिय है, जो आँखें से न तो देखी जा सकती है और न दिखाई सकती है।

योजना बड़ी है, उतनी ही बड़ी जितनी कि बड़ा उसका नाम है-'युग परिवर्तन उन्हीं का होगा जो इन दिनों हमारे कलेवर के अंग-अवयव बनकर रह रहे हैं। आप सबकी समन्वित शक्ति का नाम ही वह व्यक्ति है जो इन पंक्तियों को लिख रहा है।

कार्य कैसे पूरा होगा? इतने साधन कहाँ से आएँगे? इसकी च्तिा आप न करें। जिसने करने के लिए कहा है, वही उसके साधन भी जुटायेगा। आप तो सिर्फ एक बात सोचें कि अधिकाधिक श्रम व समर्पण करने में एक दूसरे में कौन अग्रणी रहा?

साधन, योग्यता, शिक्षा आदि की दृष्टि से हनुमान उस समुदाय में अकिंचन थे। उनका भूतकाल भगोड़े सुग्रीव की नौकरी करने में बीता था, पर जब महती शक्ति के साथ सच्चे मन और पूर्ण समर्पण के साथ लग गए, तो लंका दहन, समुद्र छलांगने और पर्वत उखाड़ने का, राम-लक्ष्मण को कंधे पर बिठाये फिरने का श्रेय उन्हें ही मिला। आप लोगों में से प्रत्येक से एक ही आशा और अपेक्षा है कि कोई भी परिजन हनुमान से कम स्तर का न हो, अपने कर्त्तृत्व में कोई भी अभिन्न सहचर पीछे न रहे।

काम क्या करना पड़ेगा? यह निर्देश और परामर्श आप लोगों को समय-समय पर मिलता रहेगा। वह तो समय की बात है। काम बदलते भी रहेंगे और बनते-बिगड़ते भी रहेंगे। आप लोग तो सिर्फ एक बात का स्मरण रखें कि जिस समर्पण भाव को लेकर घर से चले थे, पहले लेकर आए थे, उसमें दिनों-दिन बढ़ोत्तरी होती रहे, कहीं राई-रत्ती भी कमी न पड़ने पाये ।

कार्य की विशालता को समझें। लक्ष्य तक निशान न पहुँचे तो भी वह उस स्थान तक अवश्य पहुँचेगा, जिसे अद्‌भुत , अनुपम असाधारण और ऐतिहासिक कहा जा सके। इसके लिए बड़े साधन चाहिए, सो ठीक है, उसका भार दिव्य सत्ता पर छोड़ें। आप तो इतना ही करें कि आपके श्रम, समय, गुण-कर्म, स्वभाव में कहीं भी कोई त्रुटि न रहे। विश्राम की बात न सोचें, अहर्निश एक ही बात मन में रहे कि हम इस प्रस्तुतीकरण में पूर्णरूपेण खपकर कितना योगदान दे सकते हैं? कितना भार उठा सकते हैं? स्वयं को अधिककाधिक विनम्र बनाएँ, दूसरों को बड़ा मानें। स्वयंसेवक बनने में गौरव अनुभव करें। इसी में आपका बड़प्पन है।

अपनी थकान और सुविधा की बात न सोचें । जो की गुजरें, उसका अहंकार न करें, वरन् इतना ही सोचें की हमारा चिंतन, मनोयोग एवं श्रम कितनी अधिक ऊँची भूमिका निभा सका? कितनी बड़ी छलाँग लगा सका? यही आपकी अग्नि परीक्षा है। इसी में आपका गौरव और समर्पण की सार्थकता है। अपने साथियों की श्रद्धा व क्षमता घटने न दें, उसे दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ातें रहें।

स्मरण रखें की मिशन का काम अगले दिनों बहुत बढ़ेगा, अब से कई गुना। इसके लिए आपकी तत्परता ऐसी होनी चाहिए, जिसे ऊँचे से ऊँचे दर्जे का कहा जा सकें, आपका अन्तराल जिसका लेखा-जोखा लेते हुए अपने को कृत-कृत्य अनुभव करे। हम फूले न समाएँ और प्रेरक सत्ता आपको इतना घनिष्ट बनाए, जितना की राम पंचायत में छठे हनुमान भी घुस पड़े थे।

कथन का सारांश इतना ही है आप नित्य अपनी अन्तरात्मा से पूछें कि जो हम कर सकते थे, उसमें कहीं राई-रत्ती त्रुटि तो नहीं रही? आलस्य प्रमाद को कहीं चुपके से आपके क्रिया-कलापों में घुस पड़ने का अवसर तो नहीं मिल गया? अनुशासन में व्यतिरेक तो नहीं हुआ? अपने कृत्यों को दूसरों से अधिक समझने की अहंता कहीं छद्म रूप में आप पर सवार तो नहीं हो गयी?

यह विराट् योजना पूरी होकर रहेगी। देखना इतना भर है कि इस अग्नि परीक्षा की वेला में आपका शरीर, मन और व्यवहार कहीं गड़बड़ाया तो नहीं। ऊँचे काम सदा ऊँचे व्यक्तित्व करते हैं। कोई लम्बाई से ऊँचा नहीं होता, श्रम, मनोयोग,त्याग और निरहंकारिता ही किसी को ऊँचा बनाती है। अगला कार्यक्रम ऊँचा है। आपकी ऊँचाई उससे कम न पड़ने पाए, यह एक ही आशा, अपेक्षा और विश्राम आप लोगों पर रखकर कदम बढ़ रहे हैं। आप में से कोई इस विषम वेला में पिछड़ने न पाए जिसके लिए बाद में पश्चाताप करना पड़े ।

प्रज्ञा परिजनों के सप्त महाव्रत

(युगतीर्थ शांतिकुंज के माध्यम से नवसृजन अभियान को अधिक गतिशील एवं प्रभावी बनाने के क्रम में पूज्य गुरुदेव द्वारा कार्यकर्त्ताओं को अपने व्यक्तित्व में आवश्यक गुणों के विकास हेतु प्रेरणा दी गयी थी। उसी क्रम में उन्होंने यह निर्देश पत्रक जारी किया था।)

प्रज्ञा परिजनों को आत्म कल्याण और लोक मंगल का दुहरा उत्तरदायित्व संभालना है, इसमें उन्हें अपना व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक पवित्र, प्रखर एवं व्यवस्थित बनाना है इसके लिए कुछ विशेष सद्गुणों को बढ़ाने के लिए अनवरत प्रयत्न करना चाहिए। जो समझना, अपनाना और बढ़ाना है वह इस प्रकार हैं।

(१) लक्ष्य और चिंतन-

जीवन को ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि उपहार समझें और उसका उद्देश्य स्रष्टा के विश्व उद्यान को अधिकाधिक समुन्नत सुसंस्कृत बनाना मानें। इस प्रयास में आत्म कल्याण और विश्व कल्याण के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं।

बड़प्पन की महत्त्वाकांक्षाओं को घटायें। महानता प्राप्ति की उत्कंठा उभारें। वासना-तृष्णा के, लोभ-मोह के भव बंधनों में न जकड़ें। सदुद्देश्यों के आकाश में सत्प्रवृत्तियों के पंख पसारें और जीवन मुक्तों की तरह परम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए उड़ चलें। पीछे मुड़कर न देखें। वर्तमान को सँभालें, भविष्य की सोचें ।

ज्ञान योगी की तरह सोचें, कर्मयोगी की तरह पुरुषार्थ करें, भक्तियोगी की तरह सहृदयता उभारें और उसे पतन-पराभव के निराकरण में नियोजित रखें ।

प्रातः उठते ही एक दिन का जन्म, सोते ही एक रात का मरण सोचें और अवसर के श्रेष्ठतम सदुपयोग का भाव-भरा निर्धारण करें। महाप्रज्ञा के अवतरण में सहकर्मी बनें। प्रज्ञा अभियान में सम्मिलित रहें। हर दिन गायत्री मंत्र की न्यूनतम तीन माला का जप तथा सविता की ध्यान-धारणा श्रद्धा पूर्वक चलायें, उसमें व्यतिरेक न करें।

(२) श्रमशीलता-

समय ही जीवन है। जिसने समय का जितना सदुपयोग किया वह उतना ही जी लिया, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए एक-एक क्षण को सुनियोजित विधि व्यवस्था में श्रम निरत रखें। आलस्य-प्रमाद को पक्के शत्रु समझें और उन्हें पास न फटकने दें। इस सम्बन्ध में अपनी अभ्यस्त आदत को स्वयं सुधारें। पैनी नजर से देखें कि काम उदास मन से, उपेक्षापूर्वक, मंदगति से तो नहीं हो रहा है? समुचित तत्परता और स्फूर्ति बरती गयी या नहीं? समय, श्रम और परिपूर्ण मनोयोग से ही काम का स्वरूप निखरता और प्रयोजन पूर्ण होता है।

किसी काम को छोटा न मानें। हाथ में आये काम को ठीक समय पर, सही रीति से, समूची योग्यता लगाकर करने को प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर चलें। खाली समय होने पर दूसरों द्वारा बताये जाने की प्रतीक्षा न करके स्वयं अपने लिए काम तलाश करें। निजी या समीपवर्ती क्षेत्र से अव्यवस्था हटाने के रूप में वह कहीं भी प्रचुर मात्रा में मिल सकता है। प्रगति का एक ही मापदण्ड है-किसने अपने कार्यों में कितना उत्साह दिखाया और उछलकर आगे आया।

(३) सुव्यवस्था-

सौंदर्य उपासक बनें। स्वच्छता, सादगी और सुरुचि का समावेश ही सौंदर्य है। अपने शरीर, वस्त्र, बिस्तर, निवास एवं कार्य क्षेत्र पर इस सन्दर्भ में पैनी दृष्टि रखें कहीं गन्दगी, कुरूपता, अस्त-व्यस्तता तो दिखाई नहीं पड़ रही है। जहाँ दीखे वहाँ फिर कभी के लिए टालने की अपेक्षा तुरन्त सुधारने का प्रयत्न करें।

निजी कार्यक्षेत्र को सुन्दर, सुव्यवस्थित बनाने के अतिरिक्त साथियों को भी अपना मानें और उस परिकर को भी अधिक सुव्यवस्थित बनाने की बात सोचें। जो समझ में न आये उसे विनय एवं सद्भावना पूर्वक करायें भी, भूल बताने, दोष लगाने, व्यंग्य-उपहास करने पर तो सेवा सहायता भी कटुता उत्पन्न करती है, यह ध्यान में रखकर ही साथियों से सुव्यवस्था में योगदान लें।

रात को जल्दी सोयें प्रातः जल्दी उठें, डायरी लिखें। अपने समय, श्रम, चिन्तन, धन एवं प्रभाव का समय के अनुपयोग, दुरुपयोग एवं सदुपयोग का लेखा-जोखा रखें। अव्यवस्था ढूँढे और साहस पूर्वक सुधारे। अभ्यस्त ढर्रे की समीक्षा करें और उसमें अधिकाधिक प्रगतिशीलता का समावेश करने के लिए प्रयत्नशील रहें।

ध्यान रखें! योजनाबद्ध काम करने, प्रसंगों के हर पहलू पर विचार करने, परिवर्तन सोचने, साधन जुटाने, सहयोग पाने, की व्यवस्था

बुद्धि ही स्तर उठाती, सम्मान दिलाती एवं सफल बनाती हैं।

(४) शिष्टता-

दूसरों को सम्मान और अपना विनय वचन, व्यवहार में समन्वित रखने को शिष्टता कहते हैं। उस सत्प्रवृत्ति को अपने स्वभाव का अंग बनायें, उच्छृंखलता न बरतें, उसे अपनी गिरावट और दूसरों की अवहेलना द्वारा दु:खद परिस्थितियाँ उत्पन्न करने वाली निकृष्टता समझें। यह दोष स्वभाव में घुस गया हो, तो उसे कड़ी आत्मा समीक्षा करके खोजें और निरस्त करने के लिए संकल्प पूर्वक प्रयत्न करें। अभ्यासवश जब भी ऐसे प्रसंग बन पड़े, कान पकड़ने जैसी छोटी आत्म प्रताड़ना देकर प्रायश्चित करें।

मिलन और विदाई का शिष्टाचार न भूलें । चित्त प्रसन्न रखें और मंद मुस्कान बनाये रहने की आदत डालें। न थकान प्रकट होने दें, न उदासी। कहें कम, सुनें अधिक। शेखी न बघारें। मैं के स्थान पर ''हम लोग'' शब्द का प्रयोग करें। चापलूसी न करें। पर सज्जनोचित सद्व्यवहार में कमी न पड़ने दें। आवेश, उत्तेजना, कर्कशता, खीझ, झल्लाहट से दूर रहें। जो कहना है, शान्तचित्त और शालीन शब्दावली में कहें। गाली-गलौज तक न उतरें। रोष प्रकट न करने, सुधारने, दबाने के ऐसे भी तरीके हैं, जिनमें अपनी शालीनता न गँवानी पड़े। उतावली में किसी निष्कर्ष पर न पहुँचें। तथ्य समझने का प्रयत्न करें और पक्ष-विपक्ष की स्थिति को समझते हुए निर्णय पर पहुँचे ।

नागरिक कत्तव्यों का पालन करें। सामाजिक नीति-मर्यादा का ध्यान रखें। आलोचना से बचें, व्यंग्य- उपहास, निन्दा-चुगली के दुर्गुण न अपनायें। जहाँ सुधार की आवश्यकता है वहाँ आत्मीयता का समावेश रखते हुए हानि-लाभ के पक्ष रखें और अनुरोध युक्त सुझाव भर प्रस्तुत करें।

(५) संयमशीलता-

अपनी श्रम, समय, चिन्तन, धन एवं प्रतिभा के रूप में उपलब्ध क्षमताओं का महत्त्व समझें और उनके सदुपयोग से प्रगति -पथ पर अग्रसर होने की बात सोचें, इन विभूतियों का एक कण भी बर्बाद न होने दें। अपव्यय अपने ही उज्ज्वल भविष्य का विनाश है।

इन्द्रिय संयम बरतें। चटोरेपन से बचें और कामुक चिन्तन की हानियाँ समझें। दिनचर्या बनायें और कठोरता पूर्वक पालन करें। न श्रम से जी चुरायें न समय को प्रमाद में गँवायें। स्वाध्याय की आदत डालें। आत्म-निर्माण की योजना बनाने के चिन्तन-मनन में मन को लगायें। कुविचार आते ही उनके प्रतिपक्षी सुविचारों में कृपणता भी न बरतें। संग्रही न बनें पर आमदनी से खर्च कम रखें, कुछ बचत करें, उधार लेने की आदत न डालें। अपने प्रभाव का ऐसा उपयोग करें जिससे सम्पर्क क्षेत्र की दुष्प्रवृत्तियाँ घटें और सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण और परिपोषण उभरे। सादा जीवन उच्च विचार को हर समय ध्यान में रखें विलासिता की मूर्खता और ठाठ-बाट की क्षुद्रता से इसलिए बचें कि उनसे अपना व्यक्तित्व गिरता हैं और अनुकरण करने वालों का पतन होता है।

अभ्यस्त कुसंस्करों को खोजें और उन्हें संकल्पपूर्वक बुहार फेकें। इस सम्बन्ध में कठोरता बरतने, मन मारने और प्रतिकूलता सहने को ही तप कहते हैं। तप, संयम से मनुष्य सच्चे अर्थों में शक्तिशाली बनता है।

(६) उदार आत्मीयता-

आत्म निर्माण की दृष्टि से अन्तर्मुखी तो बनें पर एकाकीपन का अभिशाप न अपनायें। हिलमिल कर रहें। मिल-जुलकर काम करें और बाँट-बाँट कर खायें । अपने को समाज का एक घटक भर मानें और सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझें। अन्यों की अपेक्षा अपनों के प्रति आपा-धापी की संकीर्ण स्वार्थपरता न अपनायें। चिन्तन और व्यवहार में पारिवारिकता के सिद्धान्तों का अधिकाधिक समावेश करें।

सामूहिकता के साथ जुड़ी हुई शक्ति और प्रगति को गम्भीरतापूर्वक समझें और बिलगाव की अपेक्षा सम्मिलित सहयोग की व्यवस्था बनायें। पारस्परिक सहयोग का आदन-प्रदान जितना भी बन पड़े, करते रहें, किन्तु वह होना सदुद्देश्य के लिए ही चाहिए। कुचक्र रचना और षडयंत्र करने वाले संगठन का सहयोग न अपनायें।

आत्मीयता का क्षेत्र व्यापक करें। कुछ लोगों को ही अपना मानने और उन्हीं की फरमाइशें पूरी करने, उपहार लादते रहने के व्यामोह दल-दल में न फँसें । अपनी सामर्थ को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में लगायें। देश, धर्म और समाज, संस्कृति को प्यार करें। आत्मीयता को व्यापक बनायें। सबको अपना और अपने को सबका समझें। इस आत्मीयता का व्यावहारिक स्वरूप लोकमंगल की सेवा साधना से ही निखरता है। उदारता बरतें और बदले में आत्म-संतोष लोक सम्मान तथा दैवी अनुग्रह की विभूतियाँ कमाएँ।

(७) प्रगल्भता-

दूरदर्शी, विवेकशीलता अपनाएँ और उसी आधार पर नीति निर्धारित करें। प्रचलित ढर्रे में से उतना ही स्वीकार करें जो उचित हो। लोक-मंगल का ध्यान रखें, किन्तु लोक मत पर ध्यान न दें। जन समूह का प्रचलित प्रवाह अवाँछनीयता की ओर है उसके साथ न बहें। हर प्रसंग पर न्याय नीति अपनायें और कौन क्या कहता है, उसकी उपेक्षा कर सकने का साहस जुटायें। एक आँख प्यार की, दूसरी सुधार की रखें। औचित्य को समर्थन दें, साथ ही अनौचित्य से असहमत रहें और उसे सहयोग न दें, सम्भव हो तो विरोध भी करें और संघर्ष भी। यह नीति अपनों के साथ भी बरती जाय और दूसरों के साथ भी । मित्र या स्वजन होने पर भी उसकी अवाँछनीयताओं में सहयोग न बनें।

इन दिनों सामाजिक प्रचलनों में अनैतिकता, मूढ़ मान्यता और अवाँछनीयता की भरमार है। उलटे को उलटा करके सीधा करने की नीति अपनानी चाहिए। इसके लिए नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रांति की आवश्यकता अनुभव करें और उसे पूरे करने में कुछ कसर

उठा न रखें। आत्म-सुधार में तपस्वी, परिवार निर्माण में मनस्वी और सामाजिक परिवर्तन में तेजस्वी की भूमिका निबाहें। अनीति के वातावरण में मूक दर्शक बन कर न रहें। शौर्य, साहस के धनी बनें और अनीति उन्मूलन तथा उत्कृष्टता अभिवर्द्धन में प्रखर पराक्रम का परिचय दें।

जन सम्पर्क के कुछ सामान्य अनुशासन

प्रज्ञा परिजनों में से जिन्हें भी लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने है उन सभी को कुछ मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहिए। सेवा कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है, उससे भी अधिक लोक सेवी के व्यक्तित्व की प्रखरता का मूल्य है। मिशन को लोकप्रिय बनाने में, दूसरों को प्रभावित, परिवर्तित करने, सुधारने, उभारने में प्रयासों का जितना प्रभाव होता है, उससे कहीं अधिक सफल लोकसेवी के चिंतन चरित्र, स्वभाव पर आधारित व्यक्तित्व का पड़ता है। इस प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति प्रज्ञा अभियान के हर सदस्य-युग शिल्पी को पूरी करनी चाहिए-इस संदर्भ में मोटी मर्यादाएँ यह हैं-

(१) चटोरेपन की आदत छोड़े। किसी के घर जाकर अपनी स्वाद लिप्सा को प्रकट न होने दें। (२) महिलाओं से एकान्त वार्ता न करें। जब उनसे कुछ कहना हो तो आँख नीची रख कर वार्ता करें। (३) हिसाब शीशे की तरह साफ रखें। जहाँ से जो पैसा प्राप्त हो उसकी रसीद भिजवायें, खर्च का हिसाब प्रमाण सहित नोट करायें। (४) वार्ता तथा व्यवहार में अपनी नम्रता तथा दूसरों के सम्मान का समुचित ध्यान रखें। (५) वेश विन्यास में ब्राह्मणोचित सादगी रखें, विशेषतया केश-सज्जा तथा अन्य प्रकार की श्रृंगारिकता से बचें। इन सूत्रों को आगे के लेखों में क्रमशः अधिक स्पष्ट किया गया है।

युग शिल्पी अहमन्यता के विषपान से बचे रहें।

(लोकसेवियों को सप्त महाव्रतों के पालन की प्रेरणा देने के साथ ही पूज्यवर ने दो पत्रक और जारी किये थे। एक में सेवा-साधना के बीच मिलने वाले आकर्षक विषों से बचने का तथा दूसरों में अध्याय क्षेत्र में वरिष्ठता प्रदान करने वाली सेवा की सहचरी विनम्रता को संकल्पर्पवक विकसित करने का निर्देश दिया था। दोनों आलेख क्रमशः दिए जा रहे हैं।

समुद्र मंथन में चौदह रत्न निकले पर उनमें सर्वप्रथम दो निकले -एक हलाहल विष, तदुपरान्त मद्य। हलाहल देखने में अत्यंत आकर्षक, नील वर्ण था। मद्य होठों तक पहुँचते -पहुँचते उन्मुक्त, विक्षिप्त कर देने वाला। फिर भी उसकी ललक ऐसी थी कि जिसको एक बार स्वाद लग जाता है फिर छूटने का नाम ही नहीं लेता। इस प्रथम उपलब्धि को पाने के लिए देव-दानव दोनों ही आतुर थे। पर प्रजापति ने दोनों को ही यह समझाने का प्रयत्न किया कि यह देखने और चखने में आकर्षक लगते हुए भी अन्ततः विनाश उत्पन्न करने वाला है। शिवजी ने हलाहल तो अपने कंठ में धारण कर लिया, पर मद्य के लिए आतुर दैत्यों ने हठपूर्वक उसको गटक लिया फलतः उनकी सामर्थ्य उद्धत प्रयोजनों में लगी और पतन-पराभव का कारण बनी।

लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले के सम्बन्ध में जन साधारण की श्रद्धा उमड़ती है। परमार्थ की साहसिकता अपनाने वाले पर सम्मान बरसता है। उसकी प्रशंसा होती है। प्रशंसा भी एक सम्पदा है। सम्पदाओं की उपयोगिता तो है पर उनके पीछे एक ऐसा आवेश भी रहता है जो हजम न हो तो दुर्व्यसन उत्पन्न करेगा। बुद्धि हजम न हो तो कुचक्र षड्यंत्र रचेगी। बल हजम न हो तो उद्दण्डता के रूप में प्रकट होगा। हजम न होने पर अमृत भी विष बन जाता है, यश हजम न हो तो ऐसा अहंकार बनता है, जिसकी तुष्टि के लिए लोक सेवी को अपना चिंतन, चरित्र, व्यक्तित्व एवं भविष्य हेय स्तर का बनाकर उतना पतित बनना पड़ता है, जितना कि सेवा सर्वथा दूर रहने वाले सामान्य श्रमिक भी नहीं गिरते। लोक सेवियों में से अधिकांश को अपने व्यक्तित्व और सेवा क्षेत्र में ऐसे विग्रह उत्पन्न करते देखा जाता है, जिसे दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना ही कहा जा सकता है और सोचना पड़ता है कि यदि यश हजम कर सकने में असमर्थ लोग, लोक सेवा के क्षेत्र में न आया करें तो वे अपनी और समाज की अधिक सेवा कर सकते हैं।

मनुष्य को पतन-पराभव के गर्त गिरा देने वाली तीन दुष्प्रवृत्तियाँ है, वासना, तृष्णा और अहंता। शिश्नोदर परायण नर पशु वासना, तृष्णा के लोभ में जकड़े रहकर किसी प्रकार कोल्हू के बैल की तरह नियति चक्र में परिभ्रमण करते हुए दिन गुजारा लेते हैं। पर अहंता को चैन कहाँ? वह सारी प्रशंसा, सारा बड़प्पन सारे, अधिकार अपने ही हाथ में रखना चाहती है। दूसरे की साझेदारी उसे सहन नहीं। इसी विड़म्बना ने सर्वधिक विग्रह उत्पन्न किए हैं। लगता तो यह है कि लालच के कारण अपराध होते हैं, पर वास्तविकता यह है कि अहंता ही जहाँ-तहाँ टकराती और प्रतिशोध से लेकर आक्रमण, अपहरण, उत्पीड़न के विविध अनाचार उत्पन्न करती है। अन्याय के अवरोध तो कहने भर की बात है, वह तो जहाँ-तहाँ जब-जब ही दुष्टिगोचर होते हैं। वास्तविकता यह है कि सामन्तवादी अनाचारों का कारण भी यही है, वहाँ अहंता ही उद्धत बनी और टकराई है। अनाचारों का विश्व इतिहास पढ़ने से प्रतीत होता है कि अभाव या अन्याय के विरूद्ध नहीं अधिकांश विग्रह और युद्ध मूर्धन्य लोगों ने अहंता की परितुप्ति के लिए खड़े किये हैं। कंस, रावण हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, सहस्त्रबाहु, जरासन्ध जैसे पौराणिक और सिकन्दर, नेपोलियन, चंगेच खाँ, आल्हा, ऊदल जैसे बर्बर लोगों ने जो रक्तपात किए उनके पीछे उनकी दर्प तुष्टि के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं था।

यह चर्चा इन पंक्तियों में इसलिए की जा रही है कि युग शिल्पीयों के द्वारा आरम्भिक उत्साह में जो कार्य अपनाया जा रहा है, उसमें लोक मंगल का प्रमार्थ प्रयोजन दृष्टव्य होने के कारण श्रेय, सम्मान एवं यश तो स्वभावतः मिलना ही है। यह पचे नहीं और उद्धत हो चले तो पागल हाथी की तरह अपना, साथियों का तथा उस संगठन का विनाश करेगा, जिसके नीचे बैठकर अपनी स्थिति बनाई है। हाथी

पागल होता है तो अपनों पर ही टूटता है। इसी प्रकार लोकेषण जब पागल होती है, तो सर्वथम वह साथियों को मूर्ख, छोटा, अनुपयुक्त, दुष्ट सिद्ध कर सके। समान साथियों में मिल-जुल कर रहने में महत्त्वकांक्षी का अपना वर्चस्व कहाँ उभरता है। इसलिए उसे साथी पेड़-पादपों का सफाया करना पड़ता है ताकि समूचे खेत में एक अकेला ही कल्पवृक्ष होने की शेखी बघार सके।

दृष्टि पसार कर अपने चारों ओर लोकेषण का नग्र नृत्य देखा जा सकता है। राजनैतिक पार्टियों में होते रहने वाले अन्तर्कलह सिद्धान्तों की दुहाई भले ही देते रहें, पर वस्तुत: वे व्यक्तियों की महत्त्वकांक्षा के निमित्त ही होते हैं। कितनी ही उपयोगी संस्थाएँ पद लोलुपों ने परस्पर टकराकर अपने ही हाथों शिथिल या समाप्त कर दीं। कौरव-पाण्डवों से लेकर यादव कुल के लड़-खप कर समाप्त हो जाने के पीछे लालच छोटा और दर्प को बड़ा कारण पाया जायगा। धर्म सम्प्रदायों के जो खण्ड-खण्ड होते चले गए है, उनके प्रचलनकर्त्ताओं में सुधारक कम और श्रेय लोलुप अधिक रहे हैं। चुनावों के समय या बाद में जो विग्रह दुष्टिगोचर होते हैं, प्रतिशोध के नाम पर अनर्थ होते है, उसमें औचित्य कम और दर्प का नंगा नाच अधिक देखा जा सकता है। सास-बहू की लड़ाई में यही विड़म्बना उछलती दुष्टिगोचर होती है। पतियों का पत्नियों को आतंकित करने में यही तथ्य प्रमुख होता है।

बात इस संदर्भ में चल रही है कि युग शिल्पियों का सप्त महाव्रतों को अपनाने हेतु इसलिए निर्देश किया गया है कि उनका व्यक्तित्व उभरे और उस आधार पर आत्मबल बढ़ाते हुए अधिक उच्चस्तरीय सेवा साधना कर सकने में समर्थ हो सकें। यदि उनका पालन किया गया और लोकेषणा से उत्पन्न विष का नियमित रूप से निष्कासन किया गया तो वही दुर्गती होगी जो भोजन न करने तथा मल विसर्जन में उपेक्षा बरतने पर प्राण संकट के रूप में उत्पन्न होती है। लोकसेवी को जनता सम्मान देती है, वह वस्तुत: उस सेवा धर्म की पुण्य परम्परा का, सूत्र संचालक तंत्र का सम्मान है। सत्प्रयोजनों के लिए लोक श्रद्धा बनी रहे, मात्र इसी एक प्रयोजन के लिए सम्मान के प्रकटीकरण की प्रथा चली है। गलती यह होती है कि सेवाभावी उसे अपनी व्यक्तिगत योग्यता का प्रतिफल मानतें हैं। अहंकार में डूब जाते हैं और फिर उसे अपना अधिकार समझने लगते हैं। जहाँ उसमें कमी होती है वहाँ अप्रसन्न होते हैं। अधिक पाने के लिए आतुर रहते हैं। बँटवारा होने के कारण साथियों को हटाने या गिराने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही हथकण्डे अधिक मात्रा में सम्मान पाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। इस आपा-धापी में कौन कितना सफल हुआ, यह तो ईश्वर ही जाने, पर यह आँख पसार कर सर्वत्र देखा जा सकता है, कि यश लोलुपता,पद लोलुपता, अहमन्यता किसी से छिपायें नहीं छिपती। उभर कर ऊपर आती और बदले में घृणा, तिरस्कार पनपने लगता है। अनौचित्य के प्रति तिरस्कार का यह भाव सर्वप्रथम साथियों से आरम्भ होता है। चर्चा आगे बढ़ते है और यश लोलुप के विरूद्ध असंतोष, तिरस्कार का विस्तार क्रमश: अधिक बड़े क्षेत्र में होता चला जाता है। यह है वह प्रतिक्रिया जिसके कारण यश लोलुप तिरस्कार के भाजन बनते और जिस श्रेय सम्मान के अपनी सेवा साधना के कारण अधिकारी थे, उससे भी वंचित होते चले जाते हैं।

बड़प्पन हर क्षेत्र में मँहगा पड़ता है। धन, विद्या, सौन्दर्य, पद आदि के क्षेत्रों में जो अपने को बड़ा सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें तरह-तरह के आडम्बर खड़े करके यह प्रकट करना होता है कि उनके पास यह विशेषताएँ हैं। लोग उसे देखें, समझें और सराहें । फैशन, ठाट-बाट जैसे खर्चीले संरजाम इसी विज्ञापन बाजी के लिए किए जाते हैं ताकि देखने वाले की आँखें उन पर जाएँ । यही अनाचरण यश लोलुपों को भी अपनाना पड़ता है। वे किसी न किसी बहाने अपनी शकल बार-बार लोगों को दिखाना चाहते हैं, इसके लिए उन्हें अनेकों ऐसे उद्धत आडम्बर रचने पड़ते हैं, जिसमें उनकी प्रमुखता सिद्ध होती हो। स्टेज पर उठने-बैठने का औचित्य या आमंत्रण न होने पर भी वहाँ जा धमकते हैं, ऐसी जगह अकारण खड़े होते हैं जहाँ लोग उनकी शकल देखें और वे किसी महत्तवपूर्ण डयूटी पर जमे हुए प्रतीत हों। अपना नाम, फोटो छपाने के लिए आतुर रहना, किसी कार्य में दान दिया हो तो उसकी चर्चा स्वयं करने, दूसरों से कराने का रास्ता खोजना, दान राशि के पत्थर जड़वाना जैसी बचकानी हरकतें करने वाले प्रयत्न तो यशस्वी बनने का करते हैं पर उनकी क्षुद्रता अनायास ही प्रकट होती जाती है। सफत: वे उलटे घृणा तिरस्कार के पात्र बनते हैं। यश के साथ परोक्ष रूप से धन लूटने की भी सम्भावना जुड़ी रहती है। कितने ही इसका लाभ उठाते भी हैं, किन्तु स्पष्ट है कि ऐसे हथकण्डे अपनाने वाले आन्तरिक दृष्टि से पतित होते चले जाते हैं। फलत: वे सेवा के क्षेत्र में अन्यत्र की अपेक्षा और अधिक घाटे में रहते हैं। तिरस्कार, उपेक्षित, बहिष्कृत की स्थिति में पहुँचे हुए अनेक तथा कथित नेता ऐसे पाये जा सकते हैं, जो येन-केन प्रकारेण सम्मान जनक स्थान तक जा पहुँचने, जा बैठने में तो सफल हो जाते हैं, पर सम्पर्क क्षेत्र में सघन श्रद्धा से क्रमश: अधिकाधिक वंचित होते चले जाते हैं।

यह अहंता के परिपोषण का प्रतिफल है जिसे लोकसेवी अनजाने ही अपनाने लगते हैं। स्मरण रखा, जाय, यह घुड़दौड़ अत्यन्त मँहगी, घाटे की और मूर्खता पूर्ण है। सड़क पर नंगा नाच नाचकर भी लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, पर इससे कुछ बनता नहीं। जिस प्रकार बड़प्पन पाने के लिए उद्धत प्रदर्शन करने वाले नट, विदूषक समझे जाते हैं उसी प्रकार यश लिप्सा भी व्यंग-उपहास-तिरस्कार का कारण बनती है। सामने कोई कहे भले ही नहीं पर इस तथ्य को थोड़ा-सा पर्यवेक्षण करने पर सरलतापूर्वक चरितार्थ होते देखा जा सकता है कि प्रमुखता सिद्ध करने के लिए चित्र-विचित्र स्वांग बनाने वाले, नाटक में मुखौटे, परिधान, पहनकर कभी राजा, कभी ऋषि बनने वालों, की तरह अपनी अवास्तविकता का ढ़िढोरा स्वंय पहिनते फिरते हैं। उसमें उन्हें श्रम, समय, धन और चातुर्य का निरर्थक अपव्यय करना पड़ता है। मूर्ख या चमचे इर्द-गिर्द करके, उनके बीच रंगे सियार द्वारा वनराज बनने का ढकोसला भर खड़ा किया जा सकता है पर, उससे मिलता क्या? परोक्ष व्यड़, उपहास अपने साथ जो गहरी अवज्ञा छिपाये रहते हैं? उससे लोकसेवक, विदूषक स्तर का बनकर रह जाता है। इस दुर्मति जन्य दुर्गति का यदि पूर्वाभास रहे, तो लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले आरम्भ से ही सजग रहें

और खिलवाड़ रचने की अपेक्षा सतर्क रहने का कार्य चुनें। विज्ञापन बाजी से बचकर नम्रताजन्य स्नेह सौजन्य अपनाने वाले वस्तुत: अधिक श्रेयाधिकारी बनते हैं। यश, लिप्सा भी छाया की भाँति है। उसके पीछे दौड़ने वाले असफल रहते और खीझ, पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ पाते नहीं। इनकी अपेक्षा वे कहीं नफे में रहते हैं, जो श्रेय दुसरों को बाँटते हैं, विनम्रता स्वयं सेवक की तरह जिन्हें अपनी श्रम साधना, परमार्थ परायणता के आधार पर मिलने वाले आत्मसंतोष को ही पर्याप्त मानने की विवेक दृष्टि रहती है, वे अनचाहा यश पाते हैं। उन्हें वह गहरा स्नेह, सद्‌भाव प्राप्त होता है, जिसके साथ साथियों, परिचितों का विश्वास और सहयोग प्रचुर मात्रा में जुड़ा रहता है। दूरदर्शिता इसी में है कि लोकसेवी सच्चे मन से यश, पद, लोलुपता, अहंता छोड़े। विन्रमता अपनायें। दूसरों को आगे रखें, स्वयं पीछे रहें। अपना बखना स्थागित करें। अपना चेहरा चमकाएँ नहीं, वरन् उस तरहरहें जैसे कि सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त में आस्था रखने वाले अृष्टिकोण, चरित्र व्यवहार में अधिकाधिक शीलनता भरते और महानता के उच्च पद पर अपनी विशेषता के कारण जा पहुँचते हैं।

अध्यात्म क्षेत्र की वरिष्ठता विनम्रता पर निर्भर

युग शिल्पियों की समर्थता, वरिष्ठता, उनकी विद्या, बुद्धि, आयु, वंश आदि के आधार पर नहीं वरन् व्यक्तित्व की विशिष्ठता के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। यह किस नियम अनुशासन पर निर्धारित है, इसके लिए एक आचार संहिता 'युग शिल्पियों के सप्त महाव्रत' के नाम से प्रस्तुत की जा चुकी है। जो उसे जितनी गम्भीरता से समझने का, जितनी तत्परता से अपनाने का प्रयत्न करेंगे, वे उसी अनुपात में युग पुरूष बनने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे, मूर्धन्य महामानव कहलायेंगे और अपनी आत्मिक विभमतियों ये असंख्यों को अनुप्राणित करेंगे, अपने ढाँचे में ढालेंगे।

बड़ा, उससे बड़ा, सबसे बड़ा बनने की ललक इतनी मदान्ध हो जाती है कि कि न न्याय सूझता है, न औचित्य और न परिणाम, न मर्यादाओं का ध्यान रहता है और न नम्रता सधती है। बैल बनने की प्रतिस्पर्धा में एक मेढक अपने पेट में हवा भरता चला गया और अन्त में उदर, कलेवर फट जाने पर बेमौत मरा। वह कहानी मनुष्यों पर लागू होती है, जितनी जल्दी बन पड़े, जितना अधिक बटोरना संभव हो उतना बिना प्रतीक्षा किए, बिना मूल्य चुकाये, किसी भी छल, छद्म से अपने लिए उपलब्ध कर लिया जाय। यही है सेवा मार्ग पर चलने वालों की दुर्गति बनाने वाली ललक, भावनात्मक अवगति। आश्चर्य होता है कि जब ख्याति की, पदवी की इतनी अधिक लिप्सा थी तो उसके लिए दूसरे सस्ते उपाय, हथकण्डे हो सकते थे। सेवा का जटिल मार्ग क्यों चुना गया? यदि चुन ही लिया गया तो सेवा की अभिन्न सहचरी नम्रता को भी साथ लेकर चलना था। सेवा धर्म के साथ शीलनता का समन्वय रहना चाहिए। लोकसेवी को निस्पृह एवं विनम्र होना चाहिए। इसी में उसकी गरिमा और उज्ज्वल भविष्य की संभावना है। जो बड़प्पन लूटने, साथियों की तुलना में अधिक चमकने, उछलने का प्रयत्न करेंगे वे ओंधे मुँह गिरेंगे और अपने दाँत तोड़ लेंगे। साथी क्यों किसी का दर्प सहें, किसी के बड़े बनने पर अपनी हेठी क्यों स्वीकार करें।

सुन्द, उपसुन्द की कथा प्रसिद्ध है। एक सुन्दरी पर आसक्त होकर दोनों आपस में लड़ पड़े और मरकर समाप्त हो गये। मुगलों ने कई पीढ़ियों तक बाप की, भाइयों की छाती पर चढ़कर गद्दी हथियाई। मध्यकालीन सामन्तों ने ऐसे कितने ही कुकृत्य किये जिनमें उत्तराधिकारी बालकों की हत्या करके स्वयं मात्र दरबारी होते हुए भी सिंहासनारूढ़ हो बैठे। संस्थाओं के विघटन में यह पद लोलुपता ही प्रधान कारण रही है। चक्रवर्ती युधिष्ठिर के अनुशासन में न रहकर अपना स्वतंत्र वर्चस्व चमकने के लिए व्याकुल कौरवों ने वह अनीति अपनाई जो अन्तत: महाभारत के रूप में महाविनाश का कारण बनी। कृष्ण का यादव वंश कोई भूखा नंगा नहीं था, लेकिन उसका हर सदस्य अपनी विशिष्टता सिद्ध करने और अन्यों को गिराने के लिए सामूहिक आत्मघात की स्थिति तक जा पहुँचा। यही सब देखकर व्यास जी ने अकाटय सिद्धान्त के रूप में लिखा था-

बहव: यत्र नेतार: बहव: मानकाक्षिण।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, स दल अवसीदति॥

जहाँ बहुत लोग नेता बनें जहाँ बहुतों की महत्त्वाकांक्षा, यश लिप्सा हो, वह दल अन्तत: नष्ट होकर रहेगा।

युग शिल्पियों को समय रहते इस खतरे से बचना चाहिए। इममें से एक भी लोकेषणाग्रस्त बड़प्पन का महत्त्वाकांक्षी न बनने पाए। जो युग शिल्पी विश्व विनाश को रोकने चले हैं, यदि वे महत्त्वकांक्षा अपनाकर साथियों को पीछे धकेलेंगे, अपना चेहरा चमकने के लिए प्रतिद्वन्द्विता खड़ी करेंगे, तो अपने पैरों कुल्हाड़ी मारेंगे और इस मिशन को बदमान, नष्ट भ्रष्ट करके रहेंगे, जिसकी नाव पर वे चढ़े हैं।

भगवान् कृष्ण ने महाभारत के उपरान्त हुए राजसूय यज्ञ में आग्रह पूर्वक आगन्तुकों के पैर धोने का काम अपने जिम्मे लिया था और सज्जनोचित विनम्रता का परिचय दिया था। गाँधी जी काँग्रेस के पदाधिकारी नहीं रहे, किन्तु फिर भी सबसे अधिक सेवा करने और मान पाने में समर्थ हुए। राम-भरत में से दोनों ने राजतिलक की गेंद एक-दूसरे की ओर लुढ़काने में कोर कसर न रहने दी। चाणक्य झोपड़ी में रहते थे, ताकि राजपद उनके ऊपर न चढ़े और किसी साथी के मन में प्रधानमंत्री का ठाठ-बाट देखकर वैसी ही ललक न उठे। राजा-जनक हल जोतते थे। बादशाह नसिसरुद्दीन टोपी सीकर गुजारा करते थे। यह वे उदाहरण हैं। जिनसे साथियों को अधिक विनम्र और संयमी बनने की प्रेरणा मिलती है। नहुष ने ऋषियों को पालकी में जोता और सर्प बनने का शाप ओढ़ने को विवश हुए। पेशवाओं के प्रधान न्यायाधीश राम शास्त्री की पत्नी जब राजमहल से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण के उपहार लेकर वापस लौटी तो उनने दरवाजा बंद कर लिया और कहा ब्राह्मणों की पत्नी को अपरिग्रही आदर्श का पालन करना होगा, अन्यथा विनम्रता की सम्पदा हाथ से चली जाएगी और हम लोग द्रोणाचार्य

की तरह नौकर बनेंगे और कुछ भी करने के लिए तैयार होते रहेंगे।

युग शिल्पियों को राजकाजी लोगों की तरह बड़प्पन, ठाठ-बाट, वैभव की न तो चाह करनी चाहिए और उसके लिए अपने पुनीत क्षेत्र में हाथ पैर पीटकर ईर्ष्या, द्वेष का विष बोना चाहिए। जो जितना बड़ा हो वह उतना ही नम्र होकर रहे। अनुशासन पाले और योग्यता के अनुरूप वर्चस्व पाने का प्रयास न करे। मिशन में योग्यता का नहीं उस सज्जनता का महत्त्व है, जिसके साथ नम्रता, निरहंकारिता अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। हम में से कोई अहंकार प्रदर्शित न करे। छोटा बनकर रहे और अनुशान पालने में अपना गौरव समझे। इस रीति-नीति का परित्याग करने वाले मान के भूखे व्यक्ति सृजन शिल्पी न बनें।

सिख धर्म के छठवें गुरु अर्जुनदेव संगत में जूठे बर्तन माँजने का काम करते थे। गुरु गद्दी के इच्छुकों में से सभी को अयोग्य ठहरा कर गुरु रामदास ने अपना उत्तराधिकारी अर्जुनदेव को इस आधार पर घोषित किया कि वे नम्रता, निस्पृहता और अनुशासन पालन में अग्रणी पाये गये। अध्यात्म क्षेत्र में वरिष्ठता योग्यता के आधार पर नहीं, आत्मिक सद्गुणों की अग्नि परीक्षा में जाँची जाती है। इस गुण शृंखला में निरहंकारिता को, विनयशीलता को अति महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सरकारी क्षेत्रों में योग्यता के आधार पर पदोन्नति होती और नौकरी बढ़ती है। वही मापदण्ड यदि अध्यात्म क्षेत्र में भी अपनाया गया तो फिर भावनाओं का कहीं भी कोई महत्त्व न रहेगा। महत्त्वकांक्षी लोग ही इस क्षेत्र पर भी अपना आपित्य जमाने के लिए योग्यता की दुहाई देने लगेंगे, तब सदाशयता की कोई पूछ ही नहीं रहेगी। सन्यास लेते समय अपने अब तक के वंश, यश, पद गौरव, इतिहास का विस्मरण करना होता है। गुरु आश्रम एवं सम्प्रदाय का एक विनम्र सदस्य बनकर रहना पड़ता है। सेवा धर्म भी एक प्रकार से हल्की सन्यास परम्परा है। उसमें भूतकाल में अर्जित योग्यताओं, परिष्ठताओं को प्रायः पूरी तरह भुला कर मिशन की गरिमा के साथ जुड़े हुए एक स्वयंसेवी के हाथों में जितनी प्रतिष्ठा लगती है, उसी में सन्तोष करना होता है। स्मरण रहे अधिक वरिष्ठ व्यक्ति अधिक विनम्र होते हैं। फलों से डालियाँ लद जाने पर आम का वृक्ष धरती की ओर झुकने लगता है। अकड़ते तो पतझड़ के डंठल ही हैं।

गाँधी जी के साबरमती आश्रम में टटी साफ करने से लेकर छोटे-मोटे ऐसे सभी काम अपने हाथों करने पड़ते थे, जिन्हें करने में आमतौर से बड़ेआदमी अपनीहेटी मानकर नौकरी से कराते हैं। विनोब के पवनार आश्रम में सभी आश्रमवासी कुएँ से पानी खींचते और पहरेदारी करते थे। शांतिकुंज के हर कार्यकर्त्ता को सफाई और पहरेदारी का काम अपने हाथों करना पड़तता है। यहाँ कोई मेहतर नहीं। शौचालय, स्नानघर, नालियाँ सभी मिलजुलकर साफ करते हैं। नेतागिरी के लिए विग्रह खड़े करने वाले क्षेत्र दूसरे हो सकते हैं पर सेवा धर्म में इस प्रकार की लिप्सा का थोड़ा प्रदर्शन भी सुझाव नहीं है। स्काउटिंग की जिन्होंने शिक्षा पाई है वे जानते हैं कि वहाँ अनुशासन का पालन ही वरिष्ठता का चिन्ह माना जाता है। पदवी पाने के लिए विग्रह करने वालों के लिए स्वयंसेवी संगठनों में कोई स्थान नहीं होता।

गुरुद्वारों में श्रद्धालु सेवी हर आगन्तुकों के जूते पोंछते और यथा स्थान रखते देखे जाते हैं। महिलाएँ अपनी चुनरी से सीढियाँ साफ करती हैं। इजराइल की प्रधान मंत्री गोलडा मेयर सरकारी कर्मचारियों के दफतर स्वयं पहुँचती और समाधान तथा मार्गदर्शन खड़े-खड़े चलते-फिरते ही करती चलती थीं। केरल में जब निम्बूदरी भाई मुख्यामंत्री थे तब वे घर से दफतर तक साइकिल पर आते -जाते थे। यह नम्रता ही है, जिसे सज्जनता का दूसरा नाम कहा जा सकता है। युग शिल्पियों की सेवा साधनाम़ें इसी आचार संहिता का परिपालन किया जाता है। नेतागिरी गाँठने वाले यहाँ पाते कुछ नहीं अपनी प्रतिष्ठा का श्राद्ध तर्पण अपने हाथों ही करते चलते हैं।

साधु ब्राह्मण परम्परा में अपरिग्रही, सादगी, मितव्ययिता, नम्रता को वरिष्ठता का प्रतीत चिन्ह माना गया है। विलासी, अहंकारी, उद्धत, कटुभाषी इस क्षेत्र में हेय माने जाते हैं। भिक्षाटन के लिए जाने, घर-घर से रोटी माँगकर खाने के पीछे अहंकार गलाने की वह साधना करनी पड़ती है, जिसके बिना आध्यात्मिक उत्कृष्टता पनपती ही नहीं। जोंक जहाँ अपने पंजे गड़ा लेती है वहाँ से भरपेट रक्त पीकर ही छूटती है। छुडाने का एक ही उपाय है कि उस पर पिसा हुआ नमक छिड़क दिया जाय तो देखते-देखते गलने लगती है और छूटकर तत्क्षण एक कोने पर गिर पड़ती है। अहमन्यता एक प्रकार की जोंक है, उससे पीछा छुड़ाने के लिए ऐसे छोटे काम अपने हाथों करने होते हैं, जिन्हें आमतौर से छोटे लोगों द्वारा किये जाने योग्य समझ जाता है॥

युग शिल्पी एक महान् मिशन के अंग अवयव होने के कारण ही सम्मान पाते हैं और उच्चस्तरीय व्यक्तित्व का श्रेय पाते हैं। उन्हें सार्वजनिक प्रयोजनों में 'मैं' 'मैं' शब्द का उपयोग न करके 'हम' 'हम लोग ' कहना चाहिए। दोष दुर्गुणों की, मूल अपराधों की स्वीकृति में तो 'मैं' शब्द का उपयोग हो सकता है किन्तु श्रेय तो सभी के सम्मिलित प्रयत्नों से बन पड़ा है, इसलिए । उसके किए जाने में सभी के मिले-जुले प्रयत्न का संकेत रहना चाहिए। साथियों का स्नेह, दुलार सहयोग देने में हम अग्रणी रहें। सफलता की चर्चा में उनके श्रम सहयोग का उल्लेक करें। निरहंकारिता का खाद-पानी पाकर ही वे सप्त महाव्रत कल्पवृक्ष की तरह फलते, फूलते और सिद्ध सफलताओं से लादते हैं, जिन्हें सेवा क्षेत्र में करने वालों के उपलब्ध होने वाले दिव्य वरदान कहा गया है।

लोकसेवी का दृष्टिकोण कैसा हो ?

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और जीवन की दिशा निर्धारित करने का काम क्षण भर में नहीं तो जाता। स्वयं अपना निर्माण भी अनवरत प्रयासों से कई फिसलनों और भटकावों के बाद हुआ है, तो अपने निकटवर्तियों से शीघ्रता की आशा कैसे की जा सकती है। खास तौर से उस स्थिति में जबकि लोकसेवी का अपना रुझान आदर्शों की ओर था, टीस भी थी। जबकि दूसरों में तो अभी लगन निष्ठा भी पैदा करनी है। इसके लिए क्रमबद्ध शिक्षण और धैर्यपूर्वक प्रयास आवश्यक है।

आदर्शों पर ढृढ़ रहने की निष्ठा परिवार वालों में भी आदर्शों के वरण की ललक लगाती है। लोकसेवी द्वारा अपने आदर्शों की कीमत पर उन्हें प्रेरणा प्रदान करने का कार्य प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न नहीं होता है। जैसे लोकसेवी पिता ने यह व्रत ले रखा है कि हम सूत या खादी के वस्त्र ही पहनेंगे। स्वयं तो वह नहीं खरीदेगा। लेकिन स्वावलम्बी और कमाऊ लड़के स्नेह-श्रद्धावश उसके लिए टेरीकाट या पोलिस्टर के कपड़े ले आयें तो असमंजस की-सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, पर जभी जब अपना दृष्टिकोण परिवार वालों के सामने साफ न रहा हो। यदि स्वजन सम्बन्धियों का सादगी में शान समझने और की उज्जवलता को गौरवास्पद अनुभव करने की प्रेरणा दी जाय, स्वयं अपना व्यक्तित्व भी उसी स्तर का रखा जा सकें, तो ऐसी असमंजस पूर्ण स्थिति आ ही नहीं सकती। क्योंकि तब घर के लोग भी लोकसेवी की मान्यताओं और दृष्टिकोण के महत्त्व को समझने, स्वीकार लगेंगे तथा वे भी उन्हीं आदर्शे को अपनाने, इस व्रत पर ढृढ़ रहने की निष्ठा विकसित कर सकेंगे।

अपने व्रत पर ढृढ़ रहने की निष्ठा को प्रखर अभिव्यक्ति देने से लोग भले ही वैसा व्रत न अपनायें पर वे व्रत के महत्त्व को तो समझेंगे। परिवार के लिए लोगों को शिक्षित करने के लिए पस्थिति के अनुसार इस प्रकार के कितने ही तरीके खोजे जा सकते हैं।

परिवार के सदस्यों में उत्कृष्ठता और सद्गुणों की अभिवृद्धि के साथ-साथ लोकसेवी को चाहिए कि वे अपनी पारिवरिक जिम्मेदारियों को और ज्यादा न बढ़ायें। प्रचीन काल में जिन्हें लोक सेवा का व्रत लेना होता था वे तो ब्रह्माचर्याश्रम से सीधे ही लोक सेवा के क्षेत्र में उतर पड़ते थे और गृहस्थ व्यक्ति यदि लोकसेवा करना चाहते तो पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि घर परिवार छोड़कर सन्यासी हो जाते थे। लोक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए वे अपनी जिम्मेदारियों को इस प्रकार पूरा कर देते या ऐसी व्यवस्था कर देते थे, जिससे कि वे परिवार के प्रति कम से कम उत्तरदायी हों। उदाहरण के लिए बच्चे बड़े हो गये, तो घर परिवार की व्यवस्था उनके हाथ में सौंप कर माता-पिता ने वानप्रस्थ ले लिया और निकाल पड़े समाज सेवा के लिए। अथवा परिवार के उत्तरदायित्वों को इतना कम रखें कि उसके लिए अपना अधिकांश समय और श्रम न देना पड़े।

आज की स्थिति में युवा लोकसेवियों को चाहिए कि वे सन्तान की संख्या न बढ़ायें। अच्छा तो यही है कि लोकसेवा के क्षेत्र में रहते हुए सन्तानोत्पादन से बचा जाय। सन्तान आखिर ममता और वाल्सल्य भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही तो आवश्यक समझी जाती है। ममता और वाल्सल्य लुटाने के लिए समाज में बहुत से बच्चे हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि बच्चा अपनी ही सन्तान हो। जो विवाह की आवश्यकता अनुभव न करते हों, वे अविवाहित ही रह लें और जो विवाह करना चाहें, उन्हें तो सन्तान की आवश्यकता ही नहीं समझनी चाहिए या जिनके बच्चे हैं वे वहीं तक सीमित रखें। पारिवारिक उत्तरदायित्वों को हल्का रखने से लोक सेवा के लिए अधिक समय बच सकेगा और अपनी प्रतिभा तथा योग्यता का अधिकाधिक लाभ समाज को दे सकेंगे। जापान के गाँधी कागावा की तरह वे भी विवाहित किन्तु सन्तान उत्पन्न न कर सारे समाज का उत्तरदायित्व सँभाल सकेंगे।

सेवा के अनेक क्षेत्र हैं और उसके व्यापक स्वरूप को पूरी तरह स्पर्श कर सकना सम्भव हीं है। यह सोच कर लोग अन्त: करण में सेवा की उमंग उठते हुए तथा सेवा धर्म के लिए हर दृष्टि से योग्य होते हुए भी पीछे हट जाते हैं। वे सोचते हैं संसार में इतनी विकृतियाँ हैं, समस्या इतनी विकराल हैं या हजारों लोग बाढ़ की चपेट में आ गये हैं हम क्या कर सकते हैं? सेवा कार्य तो आरम्भ हुआ नहीं कि उसके परिणाम पर दृष्टि पहले गयी। यदि अन्य लोग जो सार्वजनिक समस्याओं के समाधान के लिए घर से निकलते हैं, वे सभी ऐसा सोच लें तो संसार में सेवापरक गतिविधियाँ चलेंगी ही नहीं? परिणाम क्या होगा, यह सोचे बिना अपनी सामर्थ्य और स्थिति के अनुसार प्रयास प्रारम्भ कर देना सेवा भाव की पहली शर्त है। गिलहरी जानती थी कि रीछ वानरों को, समुद्र पर पुल बनाने में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दे सकती। फिर भी उसने सागर में डुबकी लगना और रेत पर लोटने के बाद फिर सागर में डुबकी लगना जारी रखा। उसका योगदान परिणाम की दृष्टि से भले ही न्यून रहा हो पर भगवान् का कार्य करने वालों में उस गिलहरी को अग्रणी स्थान मिला।

व्यावहारिक दृष्टि से भी एकाकी योगदान निष्फल नहीं जाते। रीछ वानर जानते थे कि हमारी शक्ति कितनी है फिर भी उन्होंने लंका विजय की योजना बनाई और उस पर काम किया। साधनहीन और शक्तिहीन रीछ-वानरों ने समर्थ शक्तिशाली प्रतिपक्ष को किस प्रकार परास्त किया, उदाहरण सामने है। इन्द्र के क्रोधित होने पर जब ब्रज का डूबना लगभग निश्चित लगने लगा तो कृष्णने गोप-बालों के सामने गोवर्द्धन पहाड़ उठाने की योजना रखी। कहाँ गोप-बाल और कहाँ गोवर्द्धन पर्वत का उठाना। कार्य की गुरुता के आगे सभी अपने को असमर्थ मान रहे थे फिर भी पीछे नहीं हटे और गोवर्द्धन पर्वत उठाकर ही रहे। लोकसेवी की उमंग अनुभव करने और उस मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले को चाहिए कि वह बूँद-बूँद से घट भरने की बात सोचे।

प्रत्यक्ष देखने पर सेवा कार्य में घाटा जान पड़ता है जबकि वस्तुत: ऐसा नहीं है। कृषि विज्ञान से एकदम अनभिज्ञ व्यक्ति किसी किसान को खेत मे बीज डालते देखकर यह सोचने लगे कि किसान बीजों को यों ही गँवा रहा है तो कोई आश्चर्य नहीं पर उसके परिणाम हमेशा सुखद लगते हैं। सेवा साधना के परिणाम भी सामजिक सुव्यवस्था और व्यक्तिगत आत्मसंतोष एवं आनन्द के रूप में प्राप्त होते हैं। वह अनुभूति आन्तरिक है-लेकिन जिनकी दृष्टि बाहरी परिणामों पर ही टिकी रहती है वे सेवा को घाटे का सौदा समझते हैं।

समाज में यह स्थिति सदैव बनी रहने वाली है। जन साधारण स्थूल दृष्टि से ही हर वस्तु का मूल्याँकन करते हैं। इसलिए सेवा साधना के असाधारण लाभों को समझ नहीं पाते और उसके लिए आगे आने में, सहयोग देने में झिझकते हैं। जब कोई साहसी लोकसेवी उस क्षेत्र में पहल करता है, प्रसन्नतापूर्वक अलेका ही आगे बढ़ता जाता हौ तो लोगों का भ्रम दूर होता है। सेवा-साधना के लाभ सबको दिखाने

लगते हैं और लोकसेवी को सम्मान से लेकर सहयोग समर्थन तक दिया जाने लगता है।

परन्तु यदि लोकसेवी का दृष्टिकोण शुद्ध तथा प्रखर नहीं है,तो वह बीच में मिलने वाली उपेक्षा और कठिनाइयों से विचलित हो जाता है। उसे लगता है कि सेवा का लाभ सारे समाज को मिलना है, फिर भी समाज उसके लिए सहयोग नहीं देता, तो हम ही क्यों मरें? और यह भाव आते ही लोकसेवी की प्रखरता घटने लगती है।

यह चिन्तन उभरने का अर्थ है-'लोकसेवी का दृष्टिकोण खो जाना।' ऐसा चिन्तन उस मष्तिष्क में ही उभरेगा जो सेवा कार्य को कर्त्तव्य नहीं किसी पर किया गया अहसान मानता है। सेवा भाव से सन्तोष बढ़ता है और अहसान के भाव से अहंकार पनपता है। उसके बढ़ने पर पतन निश्चित है। अस्तु सेवाभावी का दृष्टिकोण सेवा के प्रति शुद्ध रहना ही चाहिए। वह सेवा कार्य को कर्त्तव्य पूर्ति का, सामाजिक ऋण से मुक्त होने का, भगवान् का प्रेम पाने का एक अलभ्य अवसर मानता है। उसे खोना नहीं चाहता। उसे सौभाग्य मानकर अपनाने के लिए दौड़ पड़ता है। कोई साथ आ रहा है या नहीं यह देखने की उसकी इच्छा ही नहीं होती। यदि कोई आ गया तो प्रसन्नतापूर्वक उसके सहयोग से कार्य को और भी प्रखर कर देता है। सहयोगी के अभाव में उसका मनोबल नहीं घटता है-और सहयोगी के आने पर उसे यह भी नहीं लगता कि कोई उसके श्रेय में हिस्सा बटाने क्यों आ गया। उसकी दृष्टि तो सेवा कार्य को अधिक से अधिक कुशलता से करने पर रहती है। इसलिए उसकी प्रखरता एवं उसे मिलने वाले सन्तोष में जरा भी कमी नहीं आने पाती।

अस्तु सेवा क्षेत्र में वृष्टि होने वाले हर व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण शुद्ध एवं प्रखर बनाकर रखना चाहिए, तभी वह सही अर्थों में अपनी शक्ति उस कार्य में लगा सकेगा। आत्मोत्कर्ष एवं समाजोत्कर्ष का संयुक्त लाभ इसी आधार पर प्राप्त हो सकेगा।

साधना समर के लिए समर्थ बने सृजन सैनिक

इमारतों का सृजन सीधा-सादा सा होता है। पुल, सड़को, बाँधों का निर्माण निर्धारित नक्शे के आधार पर चलता रहता है। पर युगों के नव सृजन में अनेकानेक **पेची दगियाँ औ**र कठिनाइयाँ आ उड़ेली हैं। कार्य का स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें प्रवाह के उलटने के प्रयास, जूझने की विद्या ही प्रमुख बन जाती है। विचारक्रांति, युग परिवर्तन, जनमानस का परिष्कार ऐसे संकल्प है, जिनकी पूर्ति में प्राय: उन सभी से टकराना पड़ता है, जो अब तक स्वजन, सम्बन्धी, हितैषी, निकटवर्ती एवं अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत माने जाते थे। इसमें मार-काट न होने पर भी भूतकाल में सम्पन्न हुए महाभारत के समतुल्य माना जा सकता है, भले ही उस टकराहट को दृश्य रूप में न देखा जा सकता हो।

अभिमन्यु चक्रव्यूह में अकेला ही घिरा पड़ा था, सब दिशाएँ शत्रुओं से अवरुद्ध थीं। ऐसी दशा में भी अर्जुन पुत्र ने समय की महती आवश्यकता और न्याय-नीति को विजयी बनाने की ललक में वह सब कुछ किया, जो उसके बलबूते में था। इस सन्दर्भ में उसे प्राण गँवाने पड़े पर विजय दुन्दुभी इतिहासकार अनन्त काल तक उसी के यशगान की बजाते रहेंगे। इसी स्तर का साहस उन्हें भी अर्जित करना पड़ेगा, जो अवांछनीयता, मूढ़-मान्यता, लोभ-लिप्सा, संकीर्ण- स्वार्थपरता और निकृष्टता के व्यामोह को चीर कर नवसृजन का मार्ग बनाना चाहें।

तथ्यों का पर्यवेक्षण अपने आप से आरम्भ करें। जन्म-जन्मान्तरों के संचित पैशाचिक स्तर के कुसंस्कार, निकटवर्ती क्षेत्र में अधिकांश लोगों द्वारा अपनायें गए अनाचारियों के प्रभाव में आकर बहुत कठोर हो जाते हैं, उन्हें अपनाई गई हठवादिता से विरत करना, आदर्शवादिता, परामर्श के आधार पर भी टेढ़ी खीर हो जाता है। जब अधिकांश लोग पैसा और वाह-वाही लूटने के अतिरिक्त और कोई तीसरी बात सोचते ही नहीं, तो हमें ही एकाकी दिशा-निर्धारित की बात सोचकर **प्रस्तुत स**मुदाय के सामने क्यों उपहासस्पद बनना चाहिए? यह प्रश्न पूछती है, वह तथाकाथित समझदारी,जो आम लोगों पर पूरी तरह हावी है।

आदर्शो की बात कहने-सुनने भर की समझी जाती है। कथा कहने, सुनने भर से स्वर्ग मुक्ति मिल जाने वाली मूढ़ मान्यता ही सरल मालूम पड़ती है। कठोर कार्य करने के साथ सम्बन्ध जोड़ने से सभी घबराते और काँपते देखे जाते हैं। फिर अपना मार्ग एकाकी निश्चय के आधार पर किस प्रकार अपनाते बने? एकला चालो रे' गीत गाने भर में तो उत्साहवर्द्धक प्रतीत होता है, पर उसे कर दिखाने में नानी याद आती है। अपने निज के कुसंस्कार ही लोभ, मोह और अहंकार की हाथकड़ी-बेड़ी जैसे बन्धन बनकर कस जाते हैं। वे यथा-स्थिति में पड़े रहने के लिए ही बाधित हैं।

इन बन्धनों को तोड़ सकें, तो उन्हें कम से कम शिथिल तो करना ही पड़ता है। अन्यथा न संस्कार उभरता है और न ऐसा प्रयास करते बन पड़ता है, जिसके सहारे नव-सृजन के सन्दर्भ में कुछ कहने लायक पराक्रम करते बन पड़े? प्रथम कठिनाई यह कूपमंडूक बनायें रहने वाली स्थिति ही है। उछल कर सुविस्तृत विश्व-वसुधा के साथ जुड़ जाने की योजना तक गले नहीं उतरती, फिर उस स्तर का पराक्रम करते किस प्रकार बन पड़े? जब समूचा समय और साधन अभ्यस्त विडम्बना में ही खप जाता है, तो वह कैसे करते बन पड़े, जिसके लिए महाकाल का आमंत्रण हुँकारने और युगधर्म को अपनाने के लिए अन्तरात्मा पर दबाव डालता है। जो अपने भीतर असमंजस से निपट लेता है, अपनी राह आप बनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है उसी के लिए यह सम्भव है कि 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप' वाले गीत-प्रवचन को जीवन में उतार सके।

यह प्रथम मोर्चे जूझने की बात हुई। इससे बिलकुल सटा हुआ ही दुसरा मोर्चा है, जिसे सम्बन्धियों- हितैषियों का परिकर कह सकते हैं। धर्म-धारणा और सेवा-भावना के लिए सब कुछ करने पर उतारू व्यक्ति, इन दिनों अपने तथाकथित स्वजनों को ही सर्वाधिक विरोधी पाता है। आज के वातावरण में हर किसी को सम्पन्नता और विलसिता की सुविधाएँ ही सब कुछ प्रतीत होती हैं। वे अपनी मान्यता

के अनुरूप एक ही परामर्श दे सकते हैं कि परामर्थ की कष्ट-साध्य प्रक्रिया से व्यवहारत: कोसों दूर रहना ही लाभदायक है।

उनकी बात, जो जिस हद तक स्वीकार कर लेता है, उसे उसी सीमा तक स्वार्थरत रहना पड़ता है। परमार्थ की दिशा में आगे बढ़ना उसके लिए उतना ही कठिन हो जाता है। कोई वास्तविक कारण न होते हुए तर्को, तथ्यों और प्रामाणों का इतना बड़ा जखीरा सामने ला खड़ा किया जाता है कि पिछले दिनों की मित्रता को ध्यान में रखतें हुए वह कथन-परामर्श ही अभेद्य दीवार बनकर रह जाती है। स्वार्थ के पिंजड़े से बाहर एक कदम भी रखना उस स्थिति में सहन नहीं होता।

इस दूसरे मोर्चे से निकट सकने का अंगुलि-निर्देश तुलसीदास जी उस पत्र से ही मिलता है, जो उन्होंने मीरा को उनके पत्र के उत्तर में लिखा था। उसमें कहा गया था कि -

जाके प्रिय न राम वैदेही। मजिये ताही कोटी बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥ पिता तज्यो प्रह्वाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी। बलि गुरु तज्यो, कंत बनितन भये मुद मंगलकारी॥

इस निर्देश में मीरा ने अपना और समस्त समाज का भला देखा और अपनी असमंजसों को निरस्त करते हुए वे आदर्शवादिता को नये सिरे से प्रतिष्ठापित करने के लिए निकल पड़ी और बदली जैसी अमृत वर्षा करने में जीवन भर निरत रहीं।

तीसरा मोर्चो उस समुदाय के साथ बनता है, जिन्हें अचित्य- चिन्तन से, अनुचित गतिविधियों से पीछे हटने का परामर्श दिया जाता है। वे इतने भले कहाँ होते हैं कि भ्रान्तियों के विपरीत जो श्रेयस्कार अनुरोध किया जा रहा है, उसे सहज स्वीकार कर लें। पूर्वाग्रहों से जकड़ी मान्यताएँ और आदतें, जो अभ्यास में गहराई तक घुसकर बैठ गई हैं। परामर्श कितना तथ्यपूर्ण क्यों न हो, पर नशेबाज के गले वह शिक्षा कहाँ उतरती है कि आत्मघाती कुटेव से विरत होने में ही भलाई है। वह परामर्शदाता से तर्क न जीत सकने की सम्भावना देखते हुए कभी-कभी हाँ-हाँ कर देता है, पर वह आश्वाासन बहकावा भर होता है। नशेबाजी छोड़ने का न उसका मन बनता है और न वैसा साहस उभरता है। ठीक ऐसी ही कठिनाई तब सामने आती है, जब पैर से सिर तक कीचड़ में धँसे हुए लोगों को अपनी स्थिति बदल लेने के लिए कहा जाता है। दुर्बुद्धि ऐसी पिशाचिनी है कि वह जिसे एक बार पकड़ लेती है, उसे आसानी से चंगुल में से छूटने नहीं देती ।

इतना होते हुए युग सृजेताओं के सामने इसके आलावा कोई चारा भी नहीं कि वे अचिन्त्य -चिंतन से लोगों को छुड़ायें और कुमार्ग पर चलने से लौटने का प्रयास करें। यह कार्य प्रत्यक्षत: झंझट भरा है। तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने प्रतिवेदन का औचित्य तो अकाटय सिद्ध किया जा सकता है, पर उस हठवादिता के लिए क्या किया जाय, जो आम आदमी पर विशेषतया अनगढ़ वर्च पर पूरी तरह सवार रहती देखी जाती है। ऐसी दशा में उपदेष्टाओं का परामर्श भी अरण्य-रोदन बनकर रह जाता है। बहुतों को बहुत बातें समझते रहने पर भी लोग आदर्शों की ओर मुड़ने को तैयार नहीं है। लाभ को हानि और हानि को लाभ समझने की दृष्टि जो उनकी परिपक हो गई है।

सृजन शिल्पी के करने के लिए काम तो अनेकों सामने ही हैं। पर सबसे बड़ा कार्य एक ही होता है, प्रवाह को, प्रतिबन्ध-प्रचलन को अमान्य कर सकने वाले लोकमानस का नवसृजन करना। प्रतिकूलताओं को अनुकूल स्तर की बनाकर दिखाना। युग शिल्पीयों को प्रधानतया इस एक ही प्रयत्न में आजीवन निरत रहना पड़ता है। भले ही प्रत्यक्ष क्रियाकलाप परिस्थिति के अनुरूप बदल जाते हों। जब करना यही है, उसका कोई विकल्प हो नहीं सकता, तो नये सिरे से नया निर्धारण करने और नये हाथियार सँजोने के लिए कुछ समय वस्तुस्थिति को समझने और उसका उपयुक्त समाधान खोज निकालने की आवश्यकता पड़ेगी।

बड़े काम हलके साधनों के सहारे सम्पन्न नहीं हो पाते। उनके लिए अधिक समर्थ साधन जुटाने होते हैं। बन्दूकों के दाँत खटे करने के लिए तोप के गोलों का प्रहार ही विकल्प रहता है। मजदूरों द्वारा न उठ सकने वाले भार को मजबूत क्रेंने उठाती हैं। जिन चटानों को हथौड़ों से नहीं तोड़ जा सकता उन्हें डायनामाइट के कारतूसों से उड़ाना पड़ता है या हीरे के टुकड़े वाले औजारों से छेदना पड़ता है। बड़ी समस्याओं को बड़प्पन की अनेक विशेषताओं से सम्पन्न मस्तिष्क ही सुलझा पाते हैं।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इन मोर्चों पर जूझने वालों को असाधारण प्रतिभा का धनी होना चाहिए। समय की विपन्नता को चुनौति देने वाले और उसके स्थान पर सुसम्पन्नता प्रतिष्ठापित करने के लिए जिनने निश्चय किया है, उनका व्यक्तित्व और कर्त्तव्य ऐसा मजबूत होना चाहिए, जो स्वयं तो डगमागायें नहीं, वरन् प्रतिकूलाताओं से मल्लयुद्ध करते हुए पछाड़ सकने वाले बलवान्-पहलवान् की भूमिका निभा सकें। किसी महान् प्रयोजन में सफलता का श्रेय हर किसी को मिल नहीं पाता। इसलिए यदि वस्तुत: लक्ष्य साधना हो, तो अर्जुन एवं एकलव्य जैसी लक्ष्य के प्रति ऐसी एकाग्रता सँजोनी चाहिए, जिसमें कोई व्यवधान आड़े न आ सके।

सृजनशिल्पी को अपना स्तर शब्दबेधी वाण जैसा बनाना चाहिए, जिसे निशाना बेधने के अतिरिक्त और कहीं भटकने जैसी कठिनाई का सामना करना ही न पड़े। मनस्वी ऐसे ही लोगों को कहते हैं। मनस्विता के सहारे वे इन्द्रवज्र और ब्रह्मास्त्र की तरह अभेद्य-लक्ष्य वेध सकने में समर्थ होते रहे हैं।

मनस्वी के साथ अन्याय विभूतियाँ भी आ मिलती हैं। ओजस्वी और वर्चस्वी बनाने वाली सहायक शक्तियाँ उस तक स्वयमेव खिंचकर चली आती है। नदी जितनी गहरी होती है उसमें उतना ही अधिक पानी भरा जाता है। इतना ही नहीं उस गहराई के अनुरूप ही दूर-दूर-दूर तक के नदी -नाली उसी दिशा में बहते-दौड़ते चले आते हैं और आत्म-विसर्जन करके सरिता का वैभव-विस्तार बढ़ाते रहने में अपनी-अपनी भूमिका सम्पन्न करते रहते हैं। यह लाभ उन्हें ही मिलता रहता है जो सचमुच के मनस्वी, तेजस्वी, व्रतशील, संयमी और

संकल्पवान् हैं। इन विशेषताओं को अर्जित करने के लिए अपने चिन्तन, चरित्र और व्यवहार को ऐसा बनाना पड़ता है, जिसके कण में मनोहारी सुगन्ध उभरती रहती है। ऐसे वरिष्ठ व्यक्तित्व वैचारिक प्रतिकूलता और परिस्थितियों की विकटता से भी निपटने में सफल हो जाते हैं।

दृढ़ निश्चयी अपनी निज की मानसिकता में घुसी हुई कायरता, क्षुद्रता और लाभ-लिप्सा से निपट लेते हैं। कम से कम इतना तो कर ही लेते हैं कि बाहर वालों को अंगुली उठाने का इतना अवसर न मिले, ताकि अच्छाइयाँ और सेवा-भावना प्रख्यात बुराइयों के भार से दब कर धूमिल और निरर्थक हो जायें। संसार में अनेंकों लोग दुर्गुणों और पिछली भूलों का प्रायश्चित करके भावी जीवन में महामानव बन सके हैं। हर बुरा आदमी भी सुधार प्रक्रिया को अपनाकर प्रामाणिक ही नहीं श्रद्धास्पद भी बन सकता है। आम्रपाली, अंगुलिमाल, अशोक जैसे असंख्यों के उदाहरण इस सम्भावना को समर्थन देने के लिए विद्यमान हैं।

जो दूसरों से कहना और करना है, उसे कार्यन्वित करने के लिए शुभारम्भ अपने आप से ही करना चाहिए, जो निश्चय किया है, उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहना चाहिए,। बेपेंदी के लोटे की तरह इधर से उधर लुढ़क कर अपने को उपहासास्पद नहीं बनाना चाहिए। संकल्पों को, निर्धारित निश्चयों को उस दिशा में तो पूरा किया ही जाना चाहिए, जब वे सुधार, संयम जैसे आदर्शवादी पक्ष के साथ जुड़े हुए हों। रामायण की यह चौपाई हर प्रामाणिक व्यक्ति को ध्यान में रखे ही रहना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि **प्राण जाहि पर बचन न जाई।** नित नई प्रतिज्ञाएँ करने और जोश ठण्डा होते ही गिरगिट की तरह कुछ से कुछ बन जाने वाले लोग अपनी हँसी कराते और अविश्वास का वातावरण बनाते हैं।

युग प्रवर्तकों, विचारक्रांति के सूत्रधारों का स्वभाव इतना शिष्ट, मृदुल, और शालीनता-सम्पन्न होना चाहिए कि जिससे भी बात करनी पड़े, वह मिलने भर से पुलकित हो उठे। उस पर सज्जनता की छाप पड़े और यह मान्यता अनायास ही उभरें, कि व्यक्ति अपने में ऐसे तत्व समाविष्ट कर चुका है, जिसके आधार पर सहज सद्भाव का मन:स्थिति बनती है।

इतनी स्थिति कर लेने के उपरान्त प्रतिकूलता को मोड़-मरोड़ देते हुए, अनुकूलता तक घुमा लाना कुछ कठिन नहीं रह जाता है। संककट तब खड़ा होता है, जब दोनों ही पक्ष ऐंठ-अकड़ कर प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं। ऐसी स्थिति कभी भी, कहीं भी बननी चाहिए। एक बार में बात बनती न दीख पड़े, तो झगड़कर प्रसंग को समाप्त कर देने की अपेक्षा यह गुंजायश छोड़ नहीं दी जाय, कि भविष्य में समय मिलते ही नये सिरे से, नये दृष्टिकोण से उस पर चर्चा की जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मतभेदों को किसी हद तक दूर करने में ऐसी ही विचार विनिमय काम देते हैं। इसके लिए जो प्रतिनिधि नियुक्त किये जाते हैं, उनमें यह विशिष्टता परखी जाती हैं कि वह घोर मतभेद के बीच भी सरलता और तरलता की दृष्टि से लोचदार-लचकदार बने रहें और उलझनों को सुलझाने की दिशा में क्रमश: आगे सफल होते रहें। ऐसे ही कूटनीतिज्ञ प्रतिष्ठा पाते और महानीति के लिए अधिकारी समझे जाते हैं।

नागरिकता, समाजिकता, सभ्यता, शालीनता का समन्वय ही शिष्टाचार बन जाता है। उसके प्रदर्शन का व्यावहारिक स्वरूप तो क्षेत्रों और गर्वों की स्थानीय प्रचलित परम्पराओं के अनुरूप बनता है, पर उसके माने सिद्धान्त दो हैं-एक अपनी नम्रता और दूसरा, दूसरों की प्रतिष्ठा को समुचित रूप से बनाये रहना। उद्यण्डता का, असभ्यता का तनिक सा भी पुट, बनी बात बिगाड़ देता है। प्रतिपक्षियों को अनुकूल बनाना तो दूर, इस कारण अपने समर्थक समझे जाने वाले लोग तक सामञ्जनय बात का बतंगड़ बना देते हैं। युगशिल्पियों को अधिकांश समय जनसम्पर्क में ही बिताना पड़ता है और मान्यताओं के क्षेत्र में प्राय: अपनी भूमिका इतनी लचीली रखनी पड़ती हैं कि इच्छित परिवर्तन तो होता रहे, पर उसमें उभद्रता कहीं आड़े न आये। अभीष्ट सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं छोटी-छोटी बातों पर निर्भर रहता है। कलावन्त प्रदर्शन करने से चूकते नहीं।

युगशिल्पी को अपने व्यवहार में दो अन्य आतों का समावेश करना चाहिए, जो देखने में साधारण मालूम पड़ती है, पर उनकी-प्रतिक्रिया असाधारण स्तर की होती है। उनमें से एक है-सार्वजनिक पैसे को अत्यन्त पवित्र धरोहर मानकर उसकी एक-एक पाई का इतनी सावधानी से प्रयोग करना कि जाँच करने वाले को इसमें कहीं खोट दिखाई न पड़े। साथ ही अपनी अन्तरात्मा और सर्वसाधारण को यह विश्वास बना रहे कि दान के पैसे में कहीं किसी प्रकार की कोई गड़गड़ी नहीं हुई है। जिसके भी हाथ में वह धन रहा, उसके द्वारा सन्तों जैसी निस्पृहता की दृष्टि से इस प्रसंग में सतर्कता बरती ही जानी चाहिए।

दूसरा प्रसंग है-नर और नारी के मध्यवर्ती सम्बन्धों का। सार्वजनिक क्षेत्र में नर और नारी मिल-जुलकर ही सामूहिक कार्यक्रमों और आयोजनों को सम्पनन करते हैं। ऐसी दशा में इस आशंका की गुँजाइश रहती है कि कहीं अनैतिक चिन्तन और आचरण आड़े न आने लगा हो। भावनाओं की पवित्रता तो ऐसे प्रसंगों में अक्षुण्य रहनी ही चाहिए, पर साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि तरुण और तरुणियों की घनिष्टता, निकटता और असाधारण सहकारिता भी साधारण जनों की आँखों में खटकती हैं। उतने भर से आशंकाओं का ऐसा बवण्डर बन पड़ता हैं कि जो बदनामी के स्तर तक पहुँचा देता है। ऐसी दशा में न केवल सम्बन्धि व्यक्तियों को, वरन् उस लक्ष्य को भी भारी क्षति पहुँचती, है, जिसके लिए एकत्रित हुआ गया था और मिल-जुलकर काम करने में कुछ अनुचित नहीं माना गया था।

अपनी दृष्टि और क्रिया कुछ भी क्यों न रही हो, पर लोग तो लोग हैं। संसार में प्रचलित अनेकानेक विसंगतियों को देखते हुए अशुभ आशंका कहीं भी की जा सकती है। इस लोक मान्यता को ध्यान में रखते हुए, संस्थागत हिसाब-किताब में तथा नर-नारी की निकटता वाले अवसरों पर, उतनी अधिक सावधानी बरतनी चाहिए कि कुकल्पना के लिए कहीं कोई गुंजायश ही शेष न रहे।

यहाँ एक बात और हर समाज सेवी को नोट कर लेनी चाहिए कि श्रेय पाने, हर प्रसंग में अपने को अग्रणी सिद्ध करने वाले लोग जन साधारण की दृष्टि में ओछे-बचकाने समझे जाते हैं और लोकसेवी का बाना पहनने पर भी बहुत घटिया समझे जाते हैं। उनको सम्मान यदि धोखे से कभी मिल भी जाय, तो वह कागज के फूल की तरह थोड़े ही समय में अपना आकर्षण खो बैठता है। नेता बनने के लिए लालायित लोग नाम छपाने, चेहरा मटकाने और माइक पर छाये रहने की कोशिश करते हैं। बड़प्पन जताने के लिए व्याकुल लोग, कुछ हाथ में रहा हो, तो उसे भी गँवा बैठते हैं। इसके अनेकों प्रतिस्पर्धी, विरोधी और ईर्ष्यालु उपज पड़ते हैं। ऐसे विग्रहों का परिणाम उस संगठन या मंच को भी बदनाम करता है, जिस पर चलकर वे ऊँचे बनना चाहते हैं। वे स्वयं बदनाम होते हैं और उस संगठन को ले डूबते हैं, जिसके कि वे नेता कहलाना चाहते थे।

गाँधी जी की सादगी, सज्जनता और विनम्रता प्रसिद्ध थी। इसलिए वे कांग्रेस के कोई नियुक्त नेता पदाधिकारी न होते हुए भी उस समुदाय के लिए प्राण बने हुए थे। व्यक्तित्व उभारने का यही राजमार्ग है। नेतागिरी के लिए उछल-कूद करने वाले तो मात्र नट-नर्तक स्तर के अभिनेता बन कर रह जाते हैं। प्रामाणिकता के अभाव में कोई भी देर तक श्रद्धास्पद नहीं रह सकता और न उसकी नेतागिरी देर तक चलती है। सृजनशिल्पी इस तथ्य से भली प्रकार अवगत रहें, तो ही ठीक है।

लोकसेवी की प्रामाणिकता व्यक्तित्व के स्तर पर निर्भर

जीवनयापन और जीवन की रीति-नीति को आदर्शों के अनुरूप ढालने के लिए, लोकसेवी की गरिमा को सुरक्षित और स्थिर रखने के लिए अपने गुण-कर्म स्वभाव के परिष्कार की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में समग्र रूप रेखा निश्चित नहीं की जा सकती, परन्तु कुछ मोटी बातों को समझ लिया जाय और उन्हें अभ्यास में शामिल कर लियाा जाय, तो लोकसेवी का व्यक्तित्व उच्च आदर्शों के अनुरूप ढलने लगता है। लोकसेवी का व्यक्तित्व ही इतना उत्कृष्ट और जीवन्त होना चाहिए कि जो भी उसके सम्पर्क में आये वह उससे प्रभावित हुए बिना न रहे।

सेवा परक क्रिया-कलापों का अभीष्ट प्रभाव इसी कारण नहीं मिलता क्योंकि प्राय: प्रभावित करने वाले उन गुणों का अभाव रहता है, जिनकी तुलना पारस से की जाती है और उनके संस्पर्श से ही क्षुद्र व्यक्ति नर से नारायण पशु, से मानव और निम्न से उच्च श्रेणी का व्यक्ति बनने लगता है। अपने विचार अच्छे ढंग से प्रतिपादित कर, लच्छेदार वक्तव्यों द्वारा लोगों को कुछ देर के लिए चमत्कृत तो किया जा सकता है, परन्तु उसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता । स्थायी प्रभाव के लिए तो व्यक्ति को स्वयं अपने में चरित्र बल भी उत्पन्न करना पड़ता है। एक प्रसिद्ध विचारक का कथन है-''विचारों में तो सभी आदर्शवादी होते हैं। योग्य-का ज्ञान या पुण्य-पाप की अनुभूति तो मूर्ख और पापी को भी होती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम उसे भूल जाते हैं।

सेवा और व्यक्तिगत जीवन को अलग-अलग कर देखने वालों को समझना चाहिए कि लोकसेवा उनकी साधना है, व्यवसाय नहीं। सेवा व्यवसाय के रूप में अपनाने वालों की बात और है। कर्मचारी, नौकर, अधिकारी वर्ग भी जन सेवक की गणना में आते हैं, पर जन सेवा के प्रति न उसमें टीस होती है, न लगन। जिन्होंने सेवा को ही अपना पाथेय चुना है, उन लोकसेवी कार्यकर्त्ताओं को, तो सेवा का स्तर साधना की तरह ही रखना चाहिए।

अपना व्यक्तिगत जीवन यदि निकृष्ट रहा, तो सेवा साधना के प्रयसों का कोई प्रभाव नहीं। स्वामी रामतीर्थ का यह वचना 'लोकसेवियों को याद रखना चाहिए कि समाजिक कार्यकर्त्ता की वाणी ही नहीं उसका पूरा व्यक्तित्व ही बोलता है और वाणी की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व सुना जाता है।' वाणी और कर्म जब मिल जाते हुैं तो व्यक्तित्व प्रखर बन जाता है। लोकसेवी ही नहीं अन्य प्रकृति के व्यक्तियों का भी तभी प्रभाव होता है, जबकि उसके विचार और कर्म एक हों। एक वेश्या किसी साधारण व्यक्ति को आकर्षित करती है, तो उसमें वेश्या की वाणी ही सफल नहीं होती, उसके कर्म भी उसी स्तर के होते हैं। मानसिक वासना मनुष्य मन की कमजोरी है, इसलिए वह व्यभिचार की ओर आकर्षित होता है। लेकिन शराबी में भी प्रभावित करने की यही क्षमता रहती है। वह भी अपने विचार और कर्म के द्वारा अपने साथियों को प्रभावित करता है तथा उन्हें भी मद्यपान का व्यसन डाल देता है।

लोकसेवी के विचार और उसके प्रति क्रिया-कलापों में समानता हो, तो उसका व्यक्तित्व भी इतना प्रभावशाली बन सकता है कि वह अपने सेवा क्षेत्र में अभीष्ट परिणाम प्राप्त कर सके। आरंभ में अपने आचरण और विचारों का पूर्णत: एकात्म कर लेना, एकदम चरित्र को आदर्श बना लेना भी आसान नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके बहाने विचार और व्यवहार में साम्य स्थापित करने की बात नजरन्दाज की जाती रहे। इनमें स्तर का अंतर हो सकता है, लेकिन दिशा भिन्न नहीं होनी चाहिए। उदाहरण के लिए लोकसेवी खर्चीले और दान-दहेज वाले विवाहों का विरोध करता है। लोगों को अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च न करने की प्रेरणा देता है। उसके घर में कभी विवाह हो रहा हो और परिवार काफी बड़ा हो, तो थोड़ी धूमधाम तो रहेगी, पर इसके लिए खूब ठाट-बाट शौकत का प्रदर्शन किया जाय यह सर्वथा अनुचित है। कोई कार्यकर्त्ता दूसरों को सादगी से रहने और मितव्ययी जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है तथा स्वयं जीवन स्तर को तथाकथित रूप से उच्च बनाये रहता है, तो इसका प्रभाव कुछ नही होगा।

इसीलिए प्रचीनकाल से अब तक लोकसेवियों की यह परम्परा रही है कि आवश्यकताएँ कम से कम रखी जाएँ आवश्यकताओं का विस्तार किया जाय तो उनका अंत नहीं है। सुविधाएँ कितनी ही बढ़ती जाएँ कोई भी सुविधा अनावश्यक नही जँचती। रहने के लिए जैसे साधारण से मकान में गुजारा हो सकता है, तो उसमें तमाम सुविधाएं आवश्यक प्रतीत होंगी। गर्मी के कारण जी को बड़ी बेचैन होती

है, कूलर चाहिए, एयरकन्डीशन व्यवस्था नहीं होगी, तो सर्दीयों में क्या करेंगे? ऐसा इन्तजाम चाहिए, जिससे सर्दियों में भी गरम रखा जा सकता हो। जो भी सुविधाएँ होती हैं, आश्यकताओं का प्रतिबन्धित रूप से औचितित्य ढूढा जाय, तो सभी जरूरी लगेंगी। लोकसेवी इस सम्बन्ध में औसत और न्यूनतम का दृष्टकोण अपनाना चाहिए। उन्हें कम करते चला जाय, तो हमे देखेंगे कि हमारी आवश्यकताएँ कितनी कम हैं। एक सामान्य व्यक्ति को खाने के लिए पौष्टिक आहार, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान उपलब्ध हो, साथ ही शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबन्ध हो, तो समझना चाहिए कि इतने साधन हमारे लिए पर्याप्त हैं।

वेशभूषा के बाद मुख्य रूप से आती है लोकसेवी की आहार व्यवस्था। सेवा-साधना में प्रवृत्त कार्यकर्त्ताओं की अपनी आहार व्यवस्था सादगी पूर्ण और औसत स्तर की ही रखनी चाहिए। इससे एक तो स्वास्थ्य की सुरक्षा हो जाती है, दूसरे लोगों पर उसका प्रभाव पड़ता है। भोजन के सम्बन्ध में कुछ व्रत भी लिया जा सकते हैं। घर में रहते हुए तो सादा भोजन सभी करते हैं, पर लोकसेवी बाहर जनसम्पर्क या सेवा कार्यों के लिए निकलता है,या तो लोग सम्मान और श्रद्धा के वशीभूत होकर कई तरह की स्वादिष्ट वस्तुओं की व्यवस्था करते हैं। उनकी सद्भावना को उपेक्षित न करते हुए भी इस बात का ध्यान रखा जाय कि हमारा चटोरापन न बढ़ जाए। इसके लिए लोगों को पहले से बता दिया जाय कि हम लोग सादा भोजन ही करेंगे, इसके लिए कोई विशेष व्यवस्था न की जाय, तो अच्छा रहता है। आतिथ्य करने वाले व्यक्ति तो अतिथि की व्यवस्था अतिथि की तरह करते हैं। इसलिए विशेष व्यवस्था भी की जाती है, लेकिन अतिथि स्वयं सामान्य व्यवस्था का आग्रह करता है, तो उससे पूरे परिवार में अतिथि के प्रति आत्मीयता और पारिवारिकता की भावना उद्भुत हो जाती है।

स्वाद लिप्सा से बचाव तो अपने आप में ही एक सद्गुण है, जिसकी गणना संयम साधना में होती है, इसके लिए एक निमय बना कर चला जाय। जैसे रोटी के साथ एक लगावन साग ही खाएँगे या एक ही दाल खाएँगे। थाली में भोज्य पदार्थों की संख्या दो या तीन से अधिक नहीं होने देंगे। बादर के क्षेत्रों सेवा कार्य करने निकलने पर लोग श्रद्धा और स्नेह के वशीभूत होकर कुछ न कुछ चीजें बनाकर खिलाने के लिए आते हैं। यहाँ यह धर्म संकट भी उत्पन्न होता है कि यदि उन्हें लेने से एकदम इन्कार कर दिया जाय, तो उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है और ले लिया जाय, तो व्रत, टूटता है, मर्यादा भंग होती है। जिस स्नेह भाव से आतिथ्य रूप में आहार प्रस्तुत किया गया था, उसकी सराहना की जानी चाहिए।

खान-पान की तरह ही लोकसेवी को और दूसरी बातों में भी इतना सतर्क रहना चाहिए कि उन्हें असुविधा हो रही है ऐसा किसी को आभास ही न हो, अपनी आदतों को इतना लचीला बना लिया जाय कि हर परिस्थिति में, हर स्थान पर किसी प्रकार की असुविधा न लगे। जैसे बहुत से व्यक्तिों को रात में सोने से पूर्व या दिन में किसी खास समय दूध पीने की आदत है। इस अभ्यास विशेष को बाहर रहते हुए स्थगित कर दिया जाय की यही ठीक है।

दिनचर्या में स्वावलम्बन, नियमितता और अनुशान भी लोकसेवी की एक मर्यादा है। स्वावलम्बन, नियमितता और अनुशासन मनुष्य के व्यक्तित्व को संवारता तथा उसे उज्ज्वल बनाता है। स्वावलम्बन, का अर्थ है अपने काम अपने हाथ से ही किये जाएँ। घर में हों अथवा बाहर इन गुणों को अपने स्वभाव में सम्मिलित करना कोई कठिन कार्य नहीं है। परिवार में रहते हुए भी जहाँ तक हो सके अपने काम हाथ से ही किये जाने चाहिए। अपने हाथ से कपड़े धोनें, स्वयं हजामत बनाने और दूसरे जरूरी काम भी स्वयं ही करने जैसे काम स्थूल दृष्टि से किसी के लिए भले ही महत्त्व न रखते हों, पर इससे व्यक्तित्व में स्वावलम्बन, की जो सद्वृत्ति आती है, वह व्यक्तित्व को प्रखर बनाती है।

बाहर सेवा के लिए निकलते समय लोकसेवियों को चाहिए कि वे अभीष्ट कार्य स्वयं सम्पन्न करने के लिए आगे बढ़ें। आमतौर पर होता यह है कि लोकसेवी स्वयं कोई कार्य करने की अपेक्षा सेवकों को उसके लिए निर्देश देते हैं और
उनसे यह अपेक्षा करते हैं-जैसा वे चाहते हैं वैसा ही कार्य वे कर लेंगे। जैसे श्रमदान या स्वच्छता संवर्द्धन का कार्य करना है। इसके लिए कार्यकर्त्ता गाँव में गये और वहाँ के निवासियों को सफाई का महत्त्व तथा श्रमदान की आवश्यकता समझने लगे। केवल समझने पर ही कोई तैयार हो जाएगा यह तो अपेक्षा नहीं की जा सकती। ठोस परिणाम के लिए श्रमदान से गन्दगी निवारण का कार्यक्रम भी बनाना पड़ेगा। उसका व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने पर कुछ उत्साही लोग तैयार हो सकते हैं, उन्हें साथ लेकर सफाई के लिए निकल पड़ें और स्वयं उसमें भाग नहीं लिया, तो लोगों पर उसका जरा भी प्रभाव न होगा, लोग समझेंगे कि हमारे ऊपर हुक्म चलाया जा रहा है और उससे कार्य के प्रति महत्त्व बोध भी कम होगा तथा लोकसेवी के प्रति श्रद्धा भी घटेगी। ऐसे समय में उचित यही रहता है कि लोकसेवी स्वयं पहले उस काम में जुट जाए और लोगों को सहयोग देने लगे। स्मरण रखना चाहिए कि लोकसेवी अपने आप को विशिष्ट व्यक्ति कदापि व्यक्त न करें। जन साधारण से उनके व्यक्तित्व का स्तर ऊँच्च हैं अवश्य, पर उसे स्वयं अपनी ओर से विज्ञापित नहीं करना चाहिए।

लोक सेवी को निरहंकारी, स्वावलम्बी होने के साथ-साथ निर्लोभी भी होना चाहिए। यह लोभ ही हैं जिसके वशीभूत होकर अनेकों व्यक्ति सार्वजनिक सम्पत्ति का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करते हैं। लोकसेवी को ऐसे सर्वाजनिक कार्यों का नेतृत्व भी करना पड़ सकता है, जिनमें कि आर्थिक साधन जुटाये जाते हैं और लोकसेवी को उनका उत्तरदायित्व सम्हालना पड़ता हैं। ऐसी स्थिति में लोकसेवी को अपनी प्रामणिता रखनी चाहिए। प्रामाणिकता साबित करने भर से काम नहीं चल सकता। सिद्ध तो झूठा भी किया जा सकता है। लोकसेवी का अपनी ईमानदारी और प्रामाणिकता के प्रति सघन निष्ठा रखनी चाहिए। लोगों को उस सम्बन्ध में कोई संदेह न रहे इसके लिए धन के हिसाब-किताब से लेकर उपयुक्त कार्यों में खर्च करने तक सभी बातें सार्वजनिक रूप से प्रकाशित

की जाये, यदि किसी बड़ी संस्था के लिए कार्य किया जा रहा है, तो उसके प्रति उत्तरदायी रहने का कर्त्तव्य निभाया जाय, तो उसे भी संस्था को दिया गया समझें और उसके एक-एक पैसे का हिसाब दें।

धन सम्बन्धी प्रामणिकता के बाद चरित्र सम्बन्धी प्रामणिकता को भी समान महत्त्व दिया जाय। लोगों की निगाह इस सम्बन्ध में बड़ी बारीक होती है और वे चारित्रिक मर्यादाओं को धन सम्बन्धी मर्यादाओं से भी अधिक महत्त्व देते हैं और वे चारित्रिक मर्यादाओं को धन सम्बन्धी मर्यादाओं से भी अधिक महत्त्व देते हैं। इसलिए लोकसेवी यदि पुरुष है, तो स्त्रियों के प्रति और स्त्री हैं, तो पुरुषों के प्रति अपनी-अपनी दृष्टि को पवित्र रखना चाहिए। पुरुषों को व्यवहार का मर्यादा का अधिक ध्यान रखना चाहिए। पुरुष कार्यकर्त्ता स्त्रियों के साथ एकान्त में तो चर्चा नहीं ही करें, सबके सामने भी उनसे अनावश्यक बातें न कहें। जो कार्य पुरुष ही कर सकते हैं, उनके लिए महिलाओं को उनके निर्धारित कार्य करने दिये जाएँ और पुरुष अपने नियत कार्य करें। इसमें व्यतिक्रम न आने देना चाहिए। साथ ही स्त्रियों से बार-बार सम्पर्क को भी टालना चाहिए। जरूरी बातें एक ही बार में समझा देनी चाहिए। बार-बार उनसे सम्पर्क करने में लोगों की दृष्टि उस ओर जाती है और बुरी भावना न होते हुए भी लोग टीका-टिप्पणी करने लगते हैं।

आज की स्थिति में सेवा कार्यों तथा उसमें प्रवृत्त होने वाले सेवावृत्ति वाले लोगों की भारी आवश्यकता अनुभव होती है। यदि उसकी पूर्ति की जा सके, तो निश्चित रूप से समाज में सुखद परिस्थितियाँ पैदा करना जरा भी कठिन न रहेगा। किन्तु यह होगा तभी जब लोग सेवा का महत्त्व समझें। उसके अनुरूप अपने दृष्टिकोण व्यक्तित्व एवं व्यवहार को ढालें तथा साहस पूर्वक उल्लसित होकर उस मार्ग पर चल पड़ें। सेवा के महत्त्व के साथ-साथ उसके लिए आवश्यक मनोभूमि एवं व्यक्तित्व बनाने का क्रम चल पड़े, तो इस मार्ग पर सफलताओं के ढेर लगते चलेंगे तथा सर्व साधारण में भी उस दिशा में चलने का उत्साह जगेगा।

युगशिल्पियों से यही अपेक्षा की जाती है कि सेवा का महत्त्व समझ कर जो भी व्यक्ति आएँ, वे ऐसा व्यक्तित्व बनाने में सक्षम हों कि उनका भी गौरव बढ़े तथा समाज का भी हित साधन हो। इन सूत्रों को जीवन में उतारने वाले कभी भी मार्ग से भटकेंगे नहीं, वे युग नेतृत्व का यश-गौरव प्राप्त करके रहेंगे।

सेवा धर्म के मार्ग में बाधाएँ और भटकाव

सेवा का महत्त्व और जीवन विकास के लिए उसकी आवश्यकता समझ लेने के बाद सेवा धर्म की उमंग उठना स्वाभाविक है। अधिकांश लोगों मे इस तरह की उमंग उठती है। वे उस उमंग के अनुरूप सेवा के मार्ग में प्रवृत्त भी होते हैं, किन्तु उस पथ पर अधिक समय तक नहीं चल पाते। इसका कारण है कि लोकसेवी के प्रति आवश्यक उत्साह और निष्ठा का जागरण नहीं हो पाया। कुछ लोग प्रवृत्त भी होते हैं, पर कठिनाइयाँ आती देख कर, उसे झमेला समझ कर छोड़ बैठते हैं अथवा असफलता से डर कर चुप बैठ जाते हैं।

बहुत से कारण हैं, जिनमें सेवा कार्य में संतोषजनक प्रगति नहीं हो पाती। लोग या तो गलत बातों को सही समझ कर विचलित हो जाते हैं अथवा सफलता का अहंकार उन्हें दिग्भ्रांत कर देता है। इन सब बाधाओं और भटकाव की परिस्थितियों को पहले से जान समझ कर चला जाए, तो सेवाधर्म का निर्वाह, पालन किया जा सकता है। होता यह भी है कि सेवा धर्म अपना लेने के बाद उसे अपना जीवन लक्ष्य बनाने तथा उसे साधना स्तर पर करने में भूल हो जाती है। भूलें स्वभावगत हों या परिस्थितियों के कारण, लोक सेवी को उसके साधना पथ से दूर हटाती हैं।

हमें यह तथ्य स्मरण रखना चाहिये कि मार्गदर्शन बनना हो, तो नेतृत्व का कौशल नहीं चरित्र चाहिए। प्राचीनकाल में लोकमानस के परिष्कार का महान् कार्य जो लोग हाथ में लेते थे, वे कार्यक्षेत्र में प्रवेश में प्रवेश करने से पूर्व ब्राह्मणों जैसी संयमशीलता और साधु जैसी उदार आत्मीयता का अभ्यास करते थे। इस परीक्षा में वे जितनी ऊँची कक्षा उत्तीर्ण करते थे, उसी अनुपात से उनकी सेवा-साधना सफल होती थी। यदि सच्चे मन से उच्चस्तरीय दृष्टिकोण लेकर सेवाधर्म के रूप में उपलब्ध होता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रज्ञा परिजनों का युगशिल्पी की भूमिका निभाने के लिए अग्रसर होते समय इस बात को गिरह बाँध कर रखना है कि उन्हें अपने स्तर से, व्यक्तित्व की दृष्टि से सामान्य लोगों की तुलना में कहीं ऊँचा उठकर रहना है।

इसके लिए क्या करना होगा? इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष कर्तृव्य उतना नहीं है जितना कि दृष्टिकोण में परिवर्तन करने का प्रबल अभ्यास अपनाना। सर्वविदित है कि लोभ-मोह के भव-बन्धन आदर्शवादिता के, आध्यात्मिकता के मार्ग पर चलने वाले के लिए हथकड़ी-बेड़ी जैसे अवरोध उत्पन्न करते हैं। लालची, संग्रही, विलासी व्यक्ति को लाभ लिप्सा इस कदर जकड़े रहती है कि उसे परमार्थ में कोई रस ही नहीं आता। अपनी तराजू पर अपने बाटों से तौलने पर उसे स्वार्थ वजनदार प्रतीत होता है और परमार्थ हलका। इसलिए लालच में राई-रत्ती कमी पड़ते ही वह परमार्थ से हाथ खींच लेता है और कुछ आडम्बर करता भी है, तो उतना ही जिससे कम खर्च में लोकसेवी पुण्यात्मा गँवाया और कितना कमाया।

दूसरा अवरोध है-व्यामोह। शरीर और परिवार के साथ अत्यधिक ममता जोड़ने वाले उन्हें प्रसन्न रखने के लिए उचित-अनुचित कुछ भी करते रहते हैं। उन्हें यह छोटी परिधि लोक-परलोक सभी से बढ़कर प्रतीत होती है और उसी के निमित्त कोल्हू की तरह पिसते, आग की तरह जलते और बर्फ की तरह पिघलते रहते हैं। परिवार का उत्तरदायित्व निभाना, परिजनों के प्रति कर्त्तव्यपालन करना एक बात है और उन्हें सुविधाओं से लाद-लाद कर अनुचित दुलार से व्यक्तित्व की दृष्टि से हेय हीन बना देना सर्वथा दूसरी। मोहग्रस्त लोग दूसरी को अपनाते हैं और पहली की ओर से आँखें बन्द किए रहते हैं। इसके लिए कभी रोका झिड़का जाय कि उन पर अशर्फियाँ लुटाते रहने की तुलना में कहीं अधिक हित इसमें है कि वे श्रेष्ठ चिन्तन देने का प्रयास करें, मात्र लाड़-दुलार न दें, तो यह बात कोई मोहान्ध सुनता नहीं।

पर कहे कौन किससे? ज्ञान वैराग्य की कथा कहते रहने वाले ही जब श्रोता भक्तजनों से भी अधिक गए-गुजरे सिद्ध होते हों, तो 'सत्य वचन, महाराज' की विडम्बना ही सिर हिलाती रहेगी।

परिवार पोषण किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए, क्योंकि नयी दृष्टि से देखने से इस परिकर के कितने ही सदस्य ऐसे होते हैं, जिनमें आर्थिक स्वावलम्बन की ही नहीं, दूसरों को सहारा देने की भी क्षमता है, किन्तु उन्हें मोहवश अथवा नाक कटने के डर से अपंग अपाहिज बनाकर रखा गया है। एक कमाऊ व्यक्ति ही मरता-खपता रहता है, दूसरे समर्थ होते हुए भी असमर्थों की विरादरी में आलसी, प्रमादी बनें बैठे रहते हैं। इसी प्रकार फिजूल खर्ची की आदतें जब अभ्यास में आ जाती हैं तो खर्च का ढोल इतना भारी हो जाता है कि उसे परिपोषण की संज्ञा मिलती हैं, वस्तुत: यह होता परिवार पोषण भर है। पोषण सरल हैं, तोषण अति कठिन है। पुत्रवधू की गोद से छीन-छीन कर पोते-पोतियाँ को कंधे पर लादे फिरने वाले बुढ्डों की भी कमी नहीं। कमाऊ लड़कों के गुलछर्रे उड़ाने में कोई कमी न रहने पर भी बुढ्डा जब उन्हीं के हाथ में पेन्शन थमाता जाता है, तो उसकी 'दयालुता' देखते ही बनती है। जीवन भर की कमाई का बँटवारा जब समर्थ बेटों की हिस्सेदारी के रूप में कर दिया जाता है, तो प्रतीत होता है कि घिनौना व्यामोह किस प्रकार औचित्य एवं प्रचलन का लबादा ओढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करता है।

इस चक्रव्यूह के कुछ थोड़े से घेरे ही यहाँ उजागर किये हैं। ऐसे-ऐसे और भी अनेकों हैं, जिनमें आये दिन बच्चे जनने, उस पर खुशी मनाने और सिर पर पर्वतों जैसे बोझ बढ़ाते चलने की भी एक बात सम्मिलित की जा सकती है। इस मोह ग्रस्तता को परमार्थ पथ पर अड़ी हुई भारी चट्टान कह सकते हैं। लोभ को प्रथम नम्बर दिया जाता है मोह को दूसरा, पर अभी यह तय किया जाना है कि इनमें से कौन द्वितीय है, वस्तुत: यह रावण, अहिरावण जैसे सगे भाई प्रतीत होते हैं।

आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की साधना में ऐसा कुछ नहीं, जिसके लिए शरीर निर्वाह एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व निभाने में कोई बाधा पड़ती हो। मात्र लोभ और मोह का मद्यपों जैसा अतिवाद ही एक मात्र अवरोध है जो वस्तुत: तिनके जैसा हलका होते हुए भी पर्वत जैसा भारी बनकर दिग्भ्रान्तों के मन:क्षेत्र पर भूत-पिशाच की तरह चढ़ बैठता है और भली-चंगी परिस्थिति होते हुए भी नारकीय उत्पीड़नों की तरह निरन्तर संत्रस्त करता रहता है।

किन्तु बात इतनी छोटी है नहीं। इस मार्ग में एक और बड़ा अवरोध 'अहंता' का है। यह परोक्ष होती है न, अपनी पकड़ में आती है, न दूसरों की परख में। इसलिए उसकी उखाड़-पछाड़ भी नहीं होती। फलत: मजे में अपने कोंतर में बैठी पोषण पाती, जोंक की तरह मोटी होती रहती है। इसकी विनाश लीला इतनी बड़ी है जिसकी तुलना में लोभ-मोह से होने वाली हानि को नगण्य जितना ठहराया जा सकता है।

अहता बड़प्पन पाने की आकांक्षा को कहते हैं। दूसरों की तुलना में अपने को अधिक महत्त्व, गौरव, श्रेय, पद, सम्मान मिलना चाहिए। यही है अहंता की आकांक्षा। इस जादूगरनी द्वारा लोगों को चित्र-विचित्र विडम्बनाएँ रचते देखा जा सकता है। केश, वस्त्र, आभूषण, सौन्दर्य प्रसाधनों की इन दिनों धूम है। फैशन के नाम पर कितना धन और कितना समय नष्ट होता है, उसे शरीर सज्जा में रुचि रखने वाले सभी जानते हैं। उस मँहगे जंजाल को इसलिए रचना पड़ता है कि अहंता अपने को सुन्दर युवा, आकर्षण सभ्य, अमीर, सिद्ध करने के लिए इस लबादे को ओढ़कर वस्तुस्थिति से भिन्न प्रकार का प्रदर्शन करने को बाधित करती है। इसके बाद ठाट-बाट का नम्बर आता है। इसमें अमीरी का प्रदर्शन है। निवास, फर्नीचर, वाहन नौकर तथा मनोयोग लगता है, जो वास्तविक आवश्यकता की तुलना में अनेक गुणा मँहगा होता है। बात-बात में फिजूलखर्ची उस समय की जाती है जब उसे लोग देखें और अनुमान लगायें कि यह व्यक्ति धन कुबेर है और अनावश्यक खर्चने से भी इसे कोई कमी नहीं पड़ती। बड़प्पन पाने की मृगतृष्णा में लोग कितने पाखण्ड रचते, धन को पानी की तरह बहाने के उपरान्त आवश्यक प्रयोजनों में किस प्रकार कटौती करते हैं-इसे देखकर कोई सूक्ष्मदर्शी आश्चर्यचकित ही रह सकता है। असलियत का अनुमान सहज ही लगा लिया जाता है, फिर भी अहंता का उन्माद, विडम्बनाएँ रचने से बाज आता नहीं है।

यह तो सामान्य लोगों की बात हुई। अब प्रसंग उन विशिष्ट लोगों का आता है जो कि आदर्शवादी, त्यागी, आध्यात्मवादी, योगी, लोकसेवी आदि के रूप में प्रख्यात हैं। विश्लेषण करने पर इनके भीतर भी अंहता का चोर दरवाजे से घुसा और तानाशाह की तरह सिंहासनारूढ़ बना बैठा दिखाई पड़ता है। संतों केअखाड़े, धर्म, सम्प्रदाय, संस्था, संगठन, बड़ों की इसी प्रतिस्पर्धा में कलह के केन्द्र बने रहते हैं, उनके संचालकों में से कौन बड़े कहलाए? एक ही संस्था के सदस्य, एक ही लक्ष्य के दुहाई देने वाले आखिर इस कदर लड़ते क्यों है? एक दूसरे को नीचा दिखाने में निरत क्यों है? इसका वास्तविक कारण सामान्य लोगों की समझ से बाहर होता है, उन्हें तो कुछ भी कहकर बहका दिया जाता है। वास्तविकता इतनी भर होती है कि वे येन-केन प्रकारेण अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहते हैं। दूसरा जब आड़े आता है, तो मुहल्ले के कुत्तों की तरह अकारण एक दूसरे पर टूट पड़ते हैं। संगठनों के सर्वनाश में एक मात्र नहीं तो सर्वप्रधान कारण इस अहंता रूपी सूर्पणखा को ही माना जाएगा। मनोमालिन्य और विग्रह के बहाने तो सिद्धान्तवाद की दुहाई देते हुए कुछ भी गढ़े जा सकते हैं, पर यदि भारी बाँध में दरार पड़ने का कारण ढूँढने के लिए गहराई तक उतरा जाय, तो प्रतीत होगा कि अहंता की नन्हीं-सी-चुहिया ही दुम उठाये, मुँह मटकाती, पंजे दिखाती अपनी करतूत का करिश्मा दिखा रही है।

व्यवसाय और बच्चों को छोड़कर आने वालों से भी अहंता नहीं छूटती। जिस प्रकार कोई लालची मनोभूमि का मनुष्य भिक्षा-व्यवसाय करके पेट भरने पर भी लगातार कमाता जोड़ता रहता है और मरते समय चिथड़ों तथा कुल्हड़ों में लाखों की दौलत छोड़ जाता है,

उसी प्रकार लोकसेवी, अध्यात्मवादी का कलेवर बना लेने पर भी यदि अहंता न छूटी तो पैर पुजाने के लिए अनेकानेक पाखण्ड रचते, लोगों को ठगते उलझाते हुए उसे देखा जाएगा। आये दिन कुछ करतूतें, चमत्कारों की डींग हाकते तथा और भी न जाने उसे क्या-क्या करते देखा जायेगा। सार्वजनिक जीवन में ऐसे लोगों का घुस पड़ना वस्तुत: संगठन के लिए एक प्रकार से अभिशाप ही सिद्ध होता है। वे जितना जनहित करते हैं, उसकी तुलना में हजार गुना अनर्थ करके रख देते हैं। इसलिए उत्कृष्टता के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए मनीषियों ने वित्तेषणा (लोभ), पुत्रेषणा (मोह) और लोकेषणा (अहंकार-बड़प्पन) की विविध एषणाओं का परित्याग करने के उपरान्त ही श्रेय मार्ग पर पैर बढ़ाने की सलाह दी है। लोकसेवी में नम्रता निरहंकारिता उत्पन्न करने के लिए प्राचीनकाल में दरवाजे-दरवाजे भिक्षा माँगने के लिए जाना पड़ता था। यों घर बैठे भी भोजन मिलने का प्रबन्ध ऐसे लोगों के लिए कठिन नहीं है, पर अहंकार गलाने का तो कोई न कोई स्वरूप चाहिए ही, इनके बिना साधु कैसा? ब्राह्मण कैसा? लोकसेवी कैसा?

गाँधी जी के आश्रम में निवासियों को टट्टी साफ करने, झाड़ू लगाने जैसे छोटे समझे जाने वाले कार्य परिपूर्ण श्रद्धा और तत्परता के साथ करने पड़ते थे। प्रज्ञा मिशन की परम्परा भी यही है। प्रत्येक आश्रमवासी को श्रमदान अनिवार्यत: करना पड़ता है और उसमें नाली साफ करने, झाड़ू लगाने,कूड़ा ढोने जैसे कार्य ही करने होते हैं।

कई व्यक्ति सोचते हैं- हम संस्था से निर्वाह लेकर काम क्यों करें? अपना खाने के नाम पर निर्वाह लेने वालों से श्रेष्ठ क्यों न बनें? कुछ लोग इस कारण काम ही नहीं करते। इस असमंजस के पीछे कोई सिद्धान्त काम नहीं करता है मात्र अहंकार ही उछलता है। हजार रुपये मासिक का काम करके यदि कोई सौ रुपये लेता है तो उसका नौ सौ रुपये का अनुदान ही हुआ। शान्तिकुंज परम्परा में हर आश्रमवासी को अन्य सभी की तरह निर्वाह आश्रम से ही लेना पड़ता है। उसकी निजी आमदनी या पेन्शन को, उसे आश्रम में दान देते रहने के लिए कहा जाता है। लोकसेवी यदि जनता से ब्राह्मणोचित निर्वाह लेता है, तो वह वेतन भोगी कर्मचारी नहीं हो जाता, वरन् श्रद्धासिक्त निर्वाह दक्षिणा के रूप में प्राप्त करते हुए गौरवान्वित होता है। सच्चे सेवक के लिए ऐसी नम्रता आवश्यक है।

यहाँ एक और प्रकरण ध्यान देने योग्य है। वह है ऐसे व्यक्तियों से बचना, जो कालनेमि की तरह सतत अपना षडयंत्र रचते व लोकसेवी की प्रगति के मार्ग में रोड़ा बनते हैं। इस प्रकार अनेकों तरह के व्यक्ति हैं। कोई सत्परामर्श देकर मनोबल ऊँचा उठाते व साधना क्षेत्र में सहयोगी बनते हैं, किन्तु आज बाहुल्य ऐसे व्यक्तियों का है जो मायावी मालनेमि की भूमिका निभाते अच्छे भले आदमी को पथ भ्रष्ट कर देते हैं। हर समाज सेवी संस्था को ऐसे कालनेमियों से बचना पड़ता है। रावण के भाई कालनेमि का अपने काले कारनामों के कारण पुराण-कथाओं में बहुत स्थानों पर वर्णन आया है। वह त्रेता में आया था, पर काल से बद्ध नहीं था। दुर्बुद्धि देने का काम वह हर युग में करता आया है। उसी ने सर्पूणखा को नाम-कान कटाने राम के पास भेजा, रावण को सीता हरने की सलाह दी। मारीच, कुम्भकरण, मंथरा, कैकेई की बुद्धि उलटने के मूल में उसकी ही भूमिका थी। उस कालनेमि की कुटिलता अभी भी अपना कुचक्र रचने में लगी हुई है। तपस्वी, योगी, महात्मा कोई भी वेश धारण कर उसकी विक्षुब्ध जीवात्मा सतत भटकती एवं कमजोर मन:स्थिति वाले व्यक्तियों को ढूँढती रहती हैं। युगशिल्पियों-प्रज्ञापरिजनों को लोभ-मोह-अहंता इन तीन के अतिरिक्त कालनेमि परम्परा के व्यक्तियों से भी सावधान रहना चाहिए।

लोकसेवी की जीवन नीति

लोकसेवा के लिए मन में उमंग और उत्साह उठने के तत्काल बाद उस ओर प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता। उसके लिए अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ता है। मान्यताओं में आवश्यक परिवर्तन करना पड़ता है तब कहीं जाकर सेवा-साधना सम्भव होती है। मनुष्य के पास थोड़ी-सी शक्तियाँ है ओर छोटा सा जीवन है। उसे लौकिक प्रयोजनों में लगा दिया जाय अथवा पारमार्थिक प्रयोजनों में, यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। अपने स्वार्थों के लिए हर कोई प्रयत्न करता है। लोक सेवी अपनी शक्यिों का सुनियोजन जन सेवा के लिए, परमार्थ कार्यों के लिए करता है अत: उसे अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं के लिए दूसरे से भिन्न दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और अपना जीवन स्तर, आवश्यकताओं तथा साधनों के उपयोग की रीति-नीति भिन्न रखनी चाहिए।

प्राय: दृष्टिकोण न बदलने के कारण ही सेवा धर्म कठिन जन पड़ता है और उसका निर्वाह नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए आवश्यकताओं को ही लें। बहुत से व्यक्ति यह सोचते हैं कि सम्पन्नता और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य है और उसे प्राप्त करने में जो सफल हो गया वही धन्य हैं। लोक सेवी का दृष्टिकोण इससे भिन्न होना चाहिए। उसे साधनों की विपुलता नहीं, व्यक्तित्व की श्रेष्ठता को बड़प्पन का आधार मानना चाहिए। यदि ऐसा न हो सका, तो लोक सेवी उसी गोरख धन्धों में उलझ कर रह जायेगा, जिसमें कि दूसरे लोग उलझ जाते हैं। सर्वसाधारण की दृष्टि में सुविधायें और विलासिता के साधन ही जीवन की सार्थकता है। यद्यपि वे सभी को उपलब्ध नहीं होते परन्तु उसकी गतिविधियों का केन्द्रीय आधार वही रहता है। इच्छित स्तर की साधन सम्पन्नता हर कोई अर्जित नहीं कर पाता लेकिन लक्ष्य सभी का वही रहता है। लोकसेवी को सर्वसाधारण से भिन्न रीति-नीति अपनानी चाहिए।

अपने निर्वाह के लिए लोकसेवी को कम से कम आवश्यकताएँ रखने का दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। समझा जाता है कि हम जितनी शान-शौकत और मौज-मजे में विलासितापूर्ण साधनों का उपयोग करेंगे उतना ही बड़प्पन मिलेगा। वस्तुत: यह सोचना गलत है इसके लिए अपनी बड़प्पन की परिभाषा बदलनी चाहिए। बड़प्पन धन-सम्पत्ति या शान-शौकत से नहीं उत्कृष्ट और आदर्श व्यक्तित्व तथा महान् बनने वाले सद्गुणों से मिलता है। प्राचीन काल में लोक सेवी परम्परा के अन्तर्गत जितने भी संत, ऋषि, विचारक, मनीषी और

महापुरुष हुए उन्होंने यही दृष्टिकोण अपनाया। ऋषियों के रहन-सहन को सादगी इतनी सुविख्यात है कि उस संबंध में कुछ भी कहना पुनरुक्ति ही कहलायेगा। चाणक्य-जिन्होंने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने के लिए प्रचुर साधन सुविधायें जुटा सकते थे और सुविधा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकते थे। लेकिन लोक सेवियों की आदर्श परम्परा की रक्षा के लिए उन्होंने न्यूनतम आवश्यकता की मर्यादा का ही पालन किया।

इस युग में भी न्यूनतम आवश्यकताओं को रखते हुए जीवन व्यतीत करने वाले महापुरुष हुए हैं और उन्हें भरपूर श्रद्धा मिली है। गोपालकृष्ण गोखले, महर्षि अरविन्द, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, गाँधी आदि मनीषी महामानवों का जीवन तो तीस-चालीस वर्ष पूर्व की ही बात है। उन्होंने अच्छी सप्पन्न स्थिति में रहते हुए भी न्यूनतम साधनों का उपयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया। गोपालकृष्ण गोखले अच्छी सम्पन्न स्थिति के थे और आमदनी भी उन्हें पर्याप्त होती थी। पर उन्होंने अपने लिए यह मर्यादा बना ली थी कि परिवार के लिए तीस रुपये से अधिक खर्च नहीं करेंगे। उन्होंने आजवन इसी मर्यादा का पालन किया। महर्षि अरविन्द जब इग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त कर लौटे, तो उनकी नियुक्त बड़ौदा के एक कॉलेज में ५०० रुपये माहवार पर हुई। चाहते तो वे अच्छा ठाठ-बाठ का जीवन व्यतीत कर सकते थे। लेकिन उन्होंने निश्चय किया कि पचहत्तर रूपये में अपना गुजारा चालायेंगे और वास्तव में उन्होंने अपने निश्चय के अनुसार ही जीवन स्तर रखा। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को पाँच सौ रुपये प्रतिमास मिलते थे लेकिन उन्होंने अपने लिए पचास रुपये की ही व्यय सीमा रखी और आजीवन उसी स्तर को कायम रखते हुए सेवा धर्म का पालन करते रहे।

महात्मा गाँधी एक सस्ता-धोती ही पहनते थे और सादे से सादा भोजन करते थे। इसी में उन्हें संतोष की अनुभूति होती थी और जन साधारण से निकट की आत्मीयता की अनुभूति भी प्राप्त होती रही थी। अपने बीच का अपनी स्थिति का व्यक्ति मानकर लोगों ने उन्हें जो सम्मान दिया वह बीसवीं शताब्दी में शायद ही किसी व्यक्ति को मिला है।

यहाँ दो-चार महापुरुषों की ही चर्चायें की गयी हैं। अन्यथा संसार में जितने भी महान् व्यक्तित्व हुए हैं उन्होंने आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अनिवार्यता का दृष्टिकोण अपनाया। सुकरात के सम्बन्ध में कहते हैं जब भी वे कोई वस्तु खरीदते या कोई नया साधन जुटाते, तो उसके पहले अपने आप से यह प्रश्न करते कि क्या इस वस्तु के बिना मेरा काम नहीं चल सकता है? यदि उत्तर हाँ में मिलता है तो खरीदते अन्यथा उस विचार को छोड़ देते थे। कम साधनों में निर्वाह, गौरव और गरिमा की बात है, यह दृष्टिकोण विकसित किया जा सके, तो शिकायत रह जाती है।

यह समझा जाता है यदि साधारण स्तर का जीवन व्यतीत किया जाय तो लोग हमें घटिया, दरिद्र या कंजूस समझेगें। लोगों की मान्यताओं बनती और बिगड़ती रहती है। अन्यथा न सादगी का कभी अपमान हुआ और न उसके प्रति किसी में घृणा उत्पन्न हुई है। बल्कि सादगीपूर्ण कम आवश्यकताओं में ही अपना गुजारा चला लेने वाले व्यक्तियों को असाधारण सम्मान मिला है। महात्मा गाँधी खादी की एक धोती भर पहनते थे और जन साधारण जिन्हें अनुपयोगी और निम्नस्तरीय साधन उपकरण समझते हैं, उनका प्रयोग करते थे। लेकिन इससे उनके सम्मान में कोई कमी नहीं आयी। अपितु सर्वसाधारण भी उन्हीं साधनों को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगे।

सामान्य रूप से लोग फूहड़पन और गन्दे रहन-सहन को जरूर घृणा की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु सादगी को सम्मान देते हैं। छोटे **तबके** के लोगों के लोग गिरी हुई निगाह से इसलिए नहीं कि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं होते अथवा और दूसरे साधनों का आभाव रहता है। उनके प्रति असम्मान की भावना तब उभरती है जब वे आलसी होने के कारण गन्दे और मूर्ख होने के कारण अव्यवस्थित रहते हैं। कम वस्त्र या कम साधन होने से कोई छोटा या गिरा हुआ नहीं हो जाता। गिरावट आती है अस्वच्छता और अव्यवस्था से। इस प्रकार लोकसेवी को बड़प्पन की मान्यता परिष्कृत करनी चाहिए। अपना जीवन स्तर सादा, स्वच्छ तथा सुव्यवस्थित रखना चाहिए। सादगी पूर्ण वेशभूषा और न्यूनतम आवश्यकताएँ, यह सिद्धांत अपने जीवन में समाविष्ट कर लेना चाहिए। सुरुचिपूर्ण सादगी को ही अपनी गौरव गरिमा समझने की दृष्टि विकसित की जानी चाहिए।

लोकसेवियों को अपने स्वरूप की गौरव गरिमा का ध्यान रखने के लिए उज्ज्वल चरित्र और धवल व्यक्तित्व की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह मान्यता बनायी और अपनायी जाय कि हम जो कुछ भी करना चाहें, जो कुछ भी शिक्षा दें वह वाणी से कम और व्यक्तित्व से अधिक उद्भुत् हो। कहने का अर्थ यह है कि लोकसेवी अपनी गरिमा को समझें और उसे अक्षुण्ण बनायें। अपने स्वरूप और वेष के गौरव को प्राचीन काल में साधु, ब्राह्मण लोक सेवियों की परम्परा में ही मानते थे, किन्तु आजकल ये शब्द रूढ़ हो गये हैं और वर्ग विशेष का अर्थ बोध कराते हैं, क्योंकि इस नाम से सम्बोधित व्यक्तियों ने भी वही रीति-नीति अपनाना आरम्भ कर दिया, जिसे कि सर्वसाधरण अपनाता रहा। बल्कि इस दृष्टि से तो उनकी रीति-नीति और भी विकृत हो गयी। कारण कि यह वर्ग जन श्रद्धा का भी दोहन करने लगा। अन्यथा एक समय था जबकि साधु वेश का अर्थ ही निस्पृह, अपरिग्रही और सेवाभावी व्यक्ति समझा जात था। उस बहुरूपिये की कहानी प्रसिद्ध है जिसने एक राजा के कहने पर कोई बड़ा कमाल दिखाने और बड़ा इनाम लेने की बात कही थी। उस कमाल के लिए बहुरूपिया साधु बन कर बैठ गया था और राजा ने उस साधु के सामने सिक्के, अशर्फियों तथा मुहरों का ढेर लगा दिया पर साधु बने बहुरूपिये ने उस ओर आँख तक उठा कर नहीं देखा। बाद में जब रहस्य खुला और राजा ने पूछा-तुम्हारे सामने इतनी सम्पदा का ढेर लगा हुआ था, यदि तुम चाहते, तो उसे ले सकते थे, अब तुम्हें इनाम मिल सकता है ? इनाम की तुलना में वह भेंट कई गुना ज्यादा थी।

बहुरूपिये ने तब यही उत्तर दिया था कि-'यदि मैं वह भेंट स्वीकार कर लेता तो उससे साधु वेष की मर्यादा समाप्त हो जाती और अब लोगों के ह्रदय में साधु के प्रति जो श्रद्धा है, वह कम हो जाती।' कहने का अर्थ यह कि साधु, ब्राह्मण-लोकसेवा ही जिनका जीवन

लक्ष्य था अपनी मर्यादाओं और नियमों के प्रति इतनी दृढ़ निष्ठा रखते थे कि जन साधारण उस वेश को देखकर ही श्रद्धानत हो उठता था। लोकसेवी को भी अपना स्वभाव, अपना रहन-सहन और अपना आचरण इस स्तर का रखना चाहिए कि उसे देखकर ही लोगों में लोकसेवी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो।

इसके लिए आत्म निर्माण की साधना करनी पड़ेगी। अपनी कमियों को खोलना और दूर करना, दुष्प्रवृत्तियों को हटाना तथा सत्प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव का अंग बनाना होगा। व्यक्तित्व की दृष्टि से लोकसेवी को अपना विकास इतना प्रखर और उच्च करना चाहिए कि उसकी वाणी से अधिक उसके कर्म प्रेरक बनें।

व्यक्तिगत का समावेश करने के साथ ही परिवार के सम्बन्ध में भी अपने दृष्टिकोण को साफ करने और उज्ज्वलता, धवलता का समावेश करने के साथ ही परिवार के सम्बन्ध में भी अपने दृष्टिकोण और रीति-नीति को परिष्कृत कर लेना चाहिए। कहा जा सकता है कि हम तो कष्ट साध्य जीवन जी लेगें, लेकिन परिवार के लिए तो पर्याप्त साधन चाहिए। लोकसेवा का व्रत ग्रहण करने के नाते अपनी आवश्यकताओं को तो कम किया जा सकता है, लेकिन बच्चों की सुविधाओं में तो कटौती नहीं की जानी चाहिए।

यदि वह दृष्टिकोण अपनाया गया तो सादगी नाम मात्र की चिह्नपूजा बनकर रह जायेगी। सेवा-साधना के लिए सादगी जिन कारणों से आवश्यक है, वे कारण भी पूरे नही हो सकेंगे-जैसे सादगी के कारण जन साधारण में अपनत्व की भावना जागती है। कहना नहीं होगा कि लोग, सेवा सेवी के साथ-साथ परिवार के सम्पर्क में भी आयेंगे। परिवार के सम्पर्क में आने पर जब ठाठ-बाट और वैभाव-विलास ही दिखाई देगा, तो लोक सेवी की निष्ठा पर लोगों को संदेह होने लगेगा और वे लोकसेवी के रहन-सहन को नाटकीय समझने लगेंगे। यह भी हो सकता है कि वे सोचें-अपने और अपने परिवार के लिए तो इन्होंने सारे साधन जुटा लिए हैं और हमें सादगी से रहने का उपदेश दे रहे हैं।

वैसे भी परिवार के लिए साधन सम्पत्ति इकट्टी करना या पर्याप्त सुविधायें जुटाना अनावश्यक है न केवल अनावश्यक वरन् अनेक दृष्टि से तो घर के बच्चों और स्वजनों के संस्कार बिगाड़ने जैसा है। उदाहरण के लिए आज परिवार में इतनी सम्पत्ति है या इतना धन इकट्टा कर लिया गया कि बच्चों को कभी पैदल चलने की जरूरत ही न पड़े। साइकिल, रिक्शा या स्कूटर जैसे साधन जुटा दिये गये, सभी सुविधायें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने से एक तो बच्चे को शरीर श्रम से जी चुराने की आदत पड़ेग। दूसरा कभी संघर्ष पूर्ण परिस्थितियाँ आयीं तो उन परिस्थितियों में निर्वाह बड़ा मुश्किल हो जायेगा।

परिवार के लिए सुविधा साधन जुटाने और धन-सम्पत्ति इकट्टी करने के स्थान पर घर के सदस्यों में सद्गुणों का संवर्धन और उत्कृष्टता का अभिवर्धन किया जाय, तो अधिक श्रेयस्कर है। धन संचय और सम्पत्ति संग्रह कर घर के बच्चों को निकम्मा और आलसी बना देने की अपेक्षा अच्छा है कि उन्हें परिश्रमी, पुरुषार्थी और जीवट वाला तथा सद्गुणी बनाया जाय। संतान सुयोग्य हो या आयोग्य, दोनों ही स्थिति में उनके लिए धन सम्पत्ति एकत्रित कर छोड़ जाना व्यर्थ है। किसी संत ने इसी को लक्ष्य कर रहा है-'पूत सपूत तो क्यों धन संचय। पूत कपूत तो क्यों धन संचय।'

अर्थात्-संतान यदि सुयोग्य है तो उसके लिए सम्पत्ति संग्रह की क्या आवश्यकता, क्योंकि अपने निर्वाह लायक उपार्जन तो वह अपनी योग्यता द्वारा ही कर लेगी और संतान यदि अयोग्य है, तो उसके लिए भी सम्पत्ति संग्रह व्यर्थ है क्योंकि वह सारी सम्पत्ति अपनी अयोग्यता के कारण शौक-मौजों में नष्ट कर देगी।

अपना आदर्श, परिवार के लिए भी प्रेरक बनता है। प्राय: अभिभावक स्वयं अपनी आवश्यकताओं में कटौती कर बच्चों के लिए सुविधा-साधन एकत्रित करते हैं। यदि बच्चों को अपने आदर्शों के अनुरूप ढालने की चेष्टा की जाय, उनके व्यक्तित्व को परिष्कृत और संस्कारित बनाने के लिए प्रयास किये जायें, तो उसके सुखद भविष्य की संभावना अधिक रहती है। धन सम्पत्ति से नहीं, गुण और योग्यताओं से ही भविष्य का निर्माण होता है। इस दृष्टि से परिवार के सदस्यों को परिमार्जित करने में समय लग सकता है। उसके लिए मूर्तिकार का-सा धैर्य रखना चाहिए। एक साधारण से पत्थर को मूर्ति का रूप देने में मूर्तिकार लम्बे समय तक परिश्रम करता है और मनोकल्पित स्वरूप को साकार हुआ देखने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है। लोकसेवी को चाहिए कि वह अपनी संतान को , परिवार के सदस्यों को आदर्शों के साँचे में ढालने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता रहे, स्वयं भी वैसा जीवन लिए एवं घर में भी वैसा वातावरण विनिर्मित करता रहे।

लोकसेवी का आचरण और व्यवहार

सम्पर्क में आते ही मनुष्य के जिस कृत्य का सर्वप्रथम प्रभाव पड़ता है, वह व्यवहार ही है। किसी व्यक्ति की वेष-भूषा, आकृति और उसके बोलने का ढंग ही प्रथम सम्पर्क में आते हैं। खान-पान की आदतें, रहन-सहन, प्रकृति, स्वभाव और आचार-विचार तो बाद में मालूम पड़ते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व का पहला परिचय व्यवहार से ही मिलता है। इसीलिए कहा गया है कि व्यवहार मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का विज्ञापन है। दीखने में कोई बड़े सौम्य दिखाई देते हैं, आकृति बड़ी शांत और सरल होती है लेकिन जैसे ही कोई उनसे सम्पर्क करता है, तो उनकी वाणी से वे सभी बातें व्यक्त हो जाती हैं, जो उनके स्वभाव में दुर्गुणों के रूप में शामिल है।

असंस्कृत मन अभिष्ट, भद्दे और फूहड़ व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। कुसंस्कारी चित्त उसी प्रकार व्यवहार के माध्यम से अपना परिचय दे देता है और पहले सम्पर्क की प्रतिक्रिया अन्त तक अपना प्रभाव कायम रखती है, यहाँ तक कि वह बाद के सभी अच्छे प्रभावों को भी धूमिल कर देता है। इसलिए लोकसेवी को अपने रूप में प्रस्तुत करन के साथ-साथ व्यवहार के द्वारा भी अपनी

आदर्शवादिता का प्रभाव छोड़ना चाहिए।

शिष्टता और शालीनता सद्व्यवहार के प्राण हैं। व्यवहार में इन गुणों का समावेश होने पर ही पता चलता है कि व्यक्ति कितना सुसंस्कारी है। प्रात: लोग आत्मीयता जताने या अपने को दूसरों से बड़ा सिद्ध करने के लिए अन्य व्यक्तियों से आदेशात्मक शैली तू-तेरे का संबोधन करते देखे जाते हैं। इसका यह अर्थ होता है कि व्यक्ति में सेवाभाव होते हुए भी अच्छे संस्कारों की कमी है अथवा केवल वह अपने अहंकार का पोषण करने के लिए इस क्षेत्र में आया है। हर किसी से आप या तुम का संबोधन तथा बातचीत करने में निर्देशात्मक शैली के स्थान पर सुझाव शैली का उपयोग सिद्ध करता है। कि लोकसेवी को संदेश लेकर पहुँच रहा है, न कि अपने बड़प्पन या विद्वता की छाप छोड़ने के लिए। शिष्टता का अर्थ है-प्रत्येक के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार और शालीनता अर्थात् प्रत्येक के प्रति स्नेह और आत्मीयता की उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति।

स्नेह और आत्मीयता तो सर्वत्र व्यक्त की जाती है। असंस्कृत वर्ग दो मित्र मिलते हैं तो वे भी स्नेह प्रदर्शन और प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं। लेकिन उनकी परिभाषा में जो फूहड़पन होता है, वह अभिव्यक्ति के स्तर में गिरावट ला देता है। लोकसेवी को तो अपने आचरण और व्यवहार द्वारा भी लोकशिक्षण करना है, साथ ही अपने व्यक्तित्व का स्तर भी ऊँचा उठाना है। अत: यह आवश्यक है कि व्यवहार में स्नेह, प्रेम का समावेश करने के साथ-साथ शिष्टता और शालीनता भी समाविष्ट की जाय।

शिष्टता के साथ शान्तिपूर्वक बोलने और आवेशग्रस्त न होने की आदत भी लोक सेवी के स्वभाव का अंग होनी चाहिए। वैसे बहुत से लोग स्वाभाविक रूप से ही कठोर और कटुभाषी होते हैं। जोर से बोलना या कटूक्तियाँ कहना उनके स्वभाव में ही रहता है, लेकिन यह भी संभव है कि वे अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहने की दृष्टि से कठोर व्यवहार कर रहे हों, किन्तु स्वभावगत कटुता तो लोकसेवी के स्वभाव में होनी ही नहीं चाहिए। सिद्धांतों के प्रश्न पर भी लोकसेवी का व्यवहार कटु-कर्कश न हो, दृढ़ता बात अलग है और कटुता बात अलग है।

दृढ़ता का अर्थ है अपने सिद्धांतों और मर्यादाओं पर अडिग रहने की निष्ठा। कई अवसर आते हैं, जब सिद्धांतों से विचलित होने का भय उपस्थित हो जाता है। लोग अपने स्नेह और श्रद्धावश उस तरह का आग्रह भी करते हैं। लोगों की श्रद्धा व्यक्ति के प्रति केन्द्रीभूत होकर उसे सम्मानित करने, अभिनन्दित करने के लिए भी उमड़ सकती है और व्यक्तिपूजा का क्रम चल सकता है। ऐसी स्थिति में अपने आदर्शों पर दृढ़ रहने, मर्यादाओं का पालन करने के लिए दृढ़ रहना तो आवश्यक है, पर कटु होने की कहीं भी आवश्यकता नहीं है।

अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ होते हुए भी लोगों के आग्रह से, जिनसे कि मर्यादा टूटने का डर रहता है, विनम्रतापूर्वक बचा जा सकता है। महात्मा गाँधी के जीवन में ऐसे कई प्रसंग आये जबकि उन्हें अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए दृढ़ता बरतने की आवश्यकता हुई। परन्तु गाँधी जी बिना किसी प्रकार की कटुता व्यक्त किये अपने सिद्धांतों पर दृढ़ बने रहे। उनके विदेशी मित्रों ने एक बार प्रीतिभोज का आयोजन करने वाले मित्र उनके सहपाठी ही थे, भोज में माँस भी पकाया गया और परोसा जाने लगा तो उन्होंने मना करते हुए कहा कि मैं इसका इस्तेमाल नहीं करता। मित्रों ने समझाया कि इसमें क्या नुकसान है। डॉक्टर लोग तो इसे स्वास्थ्यवर्द्धक बताते हैं।

गाँधी जी ने कहा-''परन्तु यह मेरा व्रत है कि मैं कभी माँसाहार न करूँगा।'' मित्र वाद-विवाद पर उतर आये और तर्क देने लगे। बहुत सम्भव था कि गाँधी भी वाद-विवाद करने लगते। मित्रों ने यह कहकर तर्कयुद्ध छेड़ने का प्रयास किया कि 'उस व्रत की क्या उपयोगिता जिससे लाभदायक कार्यों को न किया जा सके।' तो गाँधी जी ने यह क हकर विवाद को एक ही वाक्य में समाप्त किया-''इस समय मैं व्रत की आवश्यकता, उपयोगिता का बखान नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मेरे लिए अपनी माँ को दिया गया वह वचन ही काफी है जिसमें मैंने माँस न खाने और शराब न छूने का संकल्प लिया था।''

गाँधी के मित्र वहीं चुप रह गये। वहाँ सिद्धांत रक्षा भी हो गई और कटुता भी उत्पन्न न हुई। लोकसेवी को अपनी बात नम्रता और शालीनता पूर्वक कहनी चाहिए। यह नम्रता और शालीनता अन्त:स्थल से व्यक्त होनी चाहिए, अन्यथा व्यवहार में बनावटीपन भी हो सकता है। कई लोग आन्तरिक क्षेत्र में द्वेष-दुर्भाव रहते हुए भी मीठा बोलने और अपने को हितैषी जाहिर करने का अच्छा अभ्यास कर लेते हैं। ठग और जालसाज अपने मन में दूसरे व्यक्ति को ठगने, उसका धन छीनने की भावना रखते हुए भी बाहर से ऐसा व्यक्त करते हैं कि चतुर से चतुर व्यक्ति भी उनसे धोखा खा जाते हैं। लेकिन इस बनावटीपन का प्रभाव कुछ देर तक ही रहता है। उस क्षणिक प्रभाव में ही ठग, जालसाज अपना मतलब हल कर चलते बनते हैं।

लोकसेवा का उद्देश्य तो स्थायी प्रभाव छोड़ना और व्यक्ति की जीवन दिशा मोड़ना है। इसलिए उसका व्यवहार आन्तरिक भावनाओं से संयुक्त होना चाहिए। सोचा जा सकता है कि हमारे अन्त:करण में जब सद्भावनाएँ, विनयभाव, स्नेह और प्रेम, सौजन्य होगा। तब लोगों से अच्छा व्यवहार करेंगे। यह भी एक आत्म प्रवंचना है। लोकसेवी को अपने व्यवहार में आन्तरिक गहराई तो लानी चाहिए, पर उनके लिए अन्त:करण में सद्भावनाओं के उदय तक अपने व्यवहार का स्तर गिरा ही नहीं रहने देना चाहिए। क्योंकि व्यवहार का उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करने के साथ-साथ शिक्षण करना भी तो है। व्यवहार भी नियमित रूप से चलती रहे।

यदि आन्तरिक एकात्मता उत्पन्न करने के प्रयास न किये गये, तो व्यवहार में बनावटीपन बना ही रहेगा और एक न एक दिन वास्तविकता सामने आने से न रुकेगी। बनावटीपन के लिए, मिथ्याचरण के लिए कितना ही अभ्यास किया जाय, पर व्यक्ति का अपने मस्तिष्क पर से जैसे ही नियंत्रण थोड़ा कम होता है, वैसे ही वास्तविकता प्रकट हो जाती है। एक छोटी-सी घटना है, उत्तरप्रदेश के प्रमुख राजनेता तो पार्वतीय क्षेत्र में पैदा हुए थे, एक बार गम्भीर रूप से बीमार पड़े। उन्होंने आरम्भ से ही हिन्दी और अंग्रेजी बोलने का अभ्यास

कर रखा था। प्राय: वे अपने मित्रों और बोलने वालों से हिन्दी तथा अँग्रेजी में बातें किया करते थे। विशेषत: पढ़े-लिखे व्यक्तियों से तो अंग्रेजी में ही बात करते थे। बीमार पड़ने पर काफी समय तक तो वे डॉक्टरों से अंग्रेजी में बातें करते रहे, लेकिन थोड़ी देर में हिन्दी बोलने लगे। स्वास्थ्य जैसे-तैसे बिगड़ता गया वैसे-वैसे मस्तिष्क पर से उनका नियन्त्रण कम होने लगा और एक स्थिति तो ऐसी आ गयी कि वे अपने क्षेत्र की प्रचलित भाषा-पार्वतीय भाषा में बोलने लगे। सुनने वाले लोग उनके मुँह से वह भाषा सुनकर आश्चर्य चकित हुए, क्योंकि उन लोगों ने, जो काफी समय से उनके साथ काम करते रहते थे, कभी वह भाषा उनके मुँह से नहीं सुनी थी।

कहने का अर्थ यह कि बाहरी अभ्यास मस्तिष्क पर नियंत्रण रहने तक ही साथ देते हैं। मस्तिष्क पर से जैसे ही नियन्त्रण हटा या कम हुआ व्यक्ति के आन्तरिक भाव-दुर्गुण उभर कर सामने आ जाते हैं। यह जो मनोविज्ञान का पक्ष है, इसे भली-भाँति समझते हुए समाज के क्षेत्र में उतरने वाले हर व्यक्ति को अपने जीवन की व्यावहारिक पृष्ठभूमि पहले चिन्तन क्षेत्र में आरोपित करने का अभ्यास कर लेना चाहिए जैसे-जैसे आन्तरिक अभ्यास परिपक्व होने लगता है मन:संस्थान उन्हीं संस्कारों में ढल जाता है, जैसा कि बहिरंग के व्यवहार में उन्हें झलकना चाहिए। **स्वे स्वे आचरेण शिक्षयेत** का सिद्धांत हमारे ऋषिगण हमें पढ़ा गए हैं। उसे हमें अच्छी तरह आत्मसात कर अपनी जीवन शैली में ढालने का प्रयास करते रहना चाहिए।

लोकसेवी का लोक व्यवहार कैसा हो ?

लोकसेवी को दूसरों से सम्पर्क करते समय, उन्हें सत्प्रेरणाएँ प्रदान करते समय निन्दा, आलोचना से हमेशा बचना चाहिए। हो सकता है वह आलोचना सुधार की भावना से की गयी हो, पर सुनने वाले के मन पर उससे उलटी ही प्रतिक्रिया होती है। वह अपना अपमान लगता है और बैर को बाँध लेता है, जैसे किसी से कहा जाय 'आप बड़े गलत आदमी हैं ऐसे काम क्यों करते हैं ?' तो उस वाक्य में व्यक्ति के प्रति घृणा की भावना ही व्यक्त होती है। कहने वाला भले सदाशयी हो पर वह अपने मन में शत्रुता की गाँठ बना लेना, यदि सुधार की भावना से कहना था, तो यों कहना ज्यादा ठीक रहता कि-'इस काम में तो हानियाँ हैं। ये दुष्परिणाम हैं। आपने भूल के कारण ऐसा कर लिया भविष्य में बचें तो अच्छा है, ताकि इससे होनी वाली हानियाँ न उठानी पड़ें।' आवश्यक लगने पर इस भूल को सुधारने के लिए मार्गदर्शन भी दिया जा सकता है।

लेकिन ऐसे सुझाव भी किसी के सामने दिये जाएँ तो वह भी सुनने वाले को ठेस पहुँचायेंगे, इसलिए निन्दा, आलोचना तो की ही न जाय, सुधार की दृष्टि से त्रुटियाँ भी अकेले एकांत में जहाँ लोकसेवी और वह व्यक्ति हो, ऐस स्थान पर बतायी जायें। निन्दा और आलोचना से बचते हुए समीक्षा और सुझाव एकान्त में दिये जायें, पर प्रशंसा-सराहना करने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने दिया जाय। सेवा कार्यों में जो भी व्यक्ति कोई सहयोग देने के लिए आते हैं, उनमें अच्छे तत्त्वों की, परमार्थ निष्ठा की मात्रा रहती ही है। प्रशंसा करने पर व्यक्ति के कार्यों और उसकी निष्ठा को सराहा जाने पर उसे अच्छे तत्त्वों के विकास की प्रेरणा मिलती है, प्रशंसा सबके सामने की जाय, पर उस प्रशंसा के साथ यह सतर्कता कि व्यक्ति में मिथ्याभिमान न आने लगे।

अनावश्यक प्रशंसा से व्यक्ति में मिथ्याभिमान भी उत्पन्न होता है और वह प्रशंसा चापलूसी के स्तर की बन जाती है। प्रशंसा और चापलूसी में वही अन्तर है, जो अमृत और विष में। प्रशंसा से व्यक्ति को प्रोत्साहन मिलता है और वह अपना उत्कर्ष करने की ओर बढ़ने लगता है, जबकि चापलूसी व्यक्ति में मिथ्याभिमान जगा देती है, जो उसे पतन के गर्त में धकेल देता है और दिग्भ्रमित कर देती है। प्रशंसा और चापलूसी की एक कसौटी है। जब किसी व्यक्ति के गुणों को सराहा जाता है, उसके कार्यों के साथ ही उसकी निष्ठा भावना को भी सम्बोधित किया जाता है तो वह प्रशंसा होती है। उसे साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह अनुभव करने लगता है कि हमें इन गुणों के कारण प्रशंसा मिल रही है, अत: इन गुणों का विकास करना चाहिए। चापलूस व्यक्ति के स्वर में प्राय: हीनता का भाव रहता है तथा वह जिसकी प्रशंसा की जा रही है, उसकी तुलना उसी स्तर की व्यक्ति से भी करता है और तृतीय पुरुष को हर दृष्टि से घटिया सिद्ध करने की चेष्टा करता है।

प्रशंसा से प्रोत्साहन तो मिले पर उसके कारण अहंकार न जागे, इसलिए प्रशंसित व्यक्ति की न किसी से तुलना की जाय और न ही उसके दोषों को गुणों के रूप में बखान किया जाय। इस तरह की प्रशंसा व्यक्ति को अभीष्ट दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। कमियाँ और विशेषताएँ सभी में होती है। स्वयं लोकसेवी भी पूर्णत: निर्दोष या समस्त विशेषताओं से युक्त नहीं होता। अपनी कमियों को हम जिस प्रकार दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, साथ ही यह भी पसन्द नहीं करते कि उनकी चर्चा सार्वजनिक रूप से चर्चित होना या सबके सामने सुनना पसन्द नहीं करता। जहाँ तक हो सके अपनी ओर से उन्हें व्यक्तिगत लक्ष्य कर न कहा जाय तो ही अच्छा रहता है। सामान्य सिद्धान्त के रूप में उनका विश्लेषण अलग बात है, अन्यथा व्यक्तिगत टीका-टिप्पणी के रूप में उनकी चर्चा करना सम्बन्धित व्यक्ति के मन में कटुता उत्पन्न कर देता है। कार्यकर्त्ताओं को अपने दोषों को सुधारने के साथ गुणों के विकास को प्रोत्साहन दिया जाय, तो लोकसेवी की सुधार चेष्टा में और भी प्रखरता आ जाती है।

जन सम्पर्क के समय शिष्ट और शालीन व्यवहार तथा प्रशंसा और प्रोत्साहन के साथ-साथ लोकसेवी को चर्चा संवाद में धैर्यवान् भी होना चाहिए। लोकसेवी को निश्चित रूप से लोगों तक अपनी बात पहुँचती है, व एक सन्देश लेकर पहुँचना है पर लोग उसे अपने प्रतिनिधि तथाा मार्गदर्शक के रूप में देखते हैं। इसलिए वे अपनी समस्याओं और कठिनाइयों को उसके सामने रखना चाहते हैं और लोकसेवी से यह आशा करते हैं कि उनकी बातों को धैर्यपूर्वक सुनेगा, उसकी कठिनाइयों पर ध्यान देगा तथा उनका समाधान सुझायेगा।

इस जन-अपेक्षा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए तथा न ही अपनी बात कहने के लिए उतावलेपन से काम लिया जाय। लोकसेवी जन सामान्य के पास एक संदेश लेकर पहुँचता है, संदेश सुनाया जाय, अपनी बात कही जाय पर करने की सार्थकता तभी सिद्ध होगी, जब सुनने वाला सुनने के लिए तैयार हो।

प्रज्ञा परिजनों के लिए सात प्रतिबन्ध

जून १९७१ में जब पूज्य गुरुदेव अनिश्चित काल के लिए हिमालय यात्रा पर जा रहे थे और वन्दनीया माताजी ने भी मथुरा छोड़कर शांतिकुंज हरिद्वार में रहने का निर्णय किया था, उस समय पूज्य गुरुदेव ने अपने अनुयायियों के लिए सात अनिवार्य प्रतिबन्ध घोषित किये थे। उन्हें युग निर्माण मासिक में भी प्रकाशित किया गया था तथा अलग से प्रपत्र छपवाकर भी वितरित किए गये थे। प्रतिबन्ध उसी रूप में यहाँ दिए जा रहे हैं, क्योंकि उन्हें अनिवार्य अनुशासनों के रूप में जन-जन तक पहुंचाने से ही मर्यादाहीनता एवं भटकावों से बचा जा सकता है। सन् ७१ के बाद पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी द्वारा स्थूल देह त्याग तक की काल अवधि में उक्त अनुशासनों के स्वरूप में जो स्वाभाविक परिवर्तन हुए हैं, उन्हें अलग से टिप्पणियाँ देकर स्पष्ट किया गया है। नैष्ठिक परिजनों को इन पर खास ध्यान देना चाहिए तथा इस संदर्भ में पूरी जागरूकता बरतनी चाहिए कि इनका उल्लघंन किसी भी क्षेत्र में न किया जाये और न करने दिया जाये। पूज्य गुरुदेव द्वारा स्थापित अनुशासनों की जानकारी के अभाव में ही जनता भ्रमित होती है, ऐसी स्थिति यथाशक्ति न आने दी जाय।

१. **संगठन**-युग निर्माण आन्दोलन के हर सदस्य और हर शाखा का सीधा सम्बन्ध केन्द्र से रहे। क्षेत्रीय प्रान्तीय संगठन अलग से खड़े न किये जायें, परस्पर सहयोग करना दूसरी बात है पर ऐसे मध्यवर्ती संगठन आमतौर से व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति और केन्द्र से प्रतिद्वन्द्वता करने के लिए ही बनते हैं। इन प्रयासों को पूर्णतया निरुत्साहित किया जाय। केन्द्र को हम इतना समर्थ बनाये जा रहे हैं, भविष्य में बनाते रहेंगे कि वह भारत का ही नहीं समस्त विश्व का एक स्थान से समुचित सूत्र संचालन कर सकें।

तब से अब तक अपने मिशन के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। संगठन की तमाम क्षेत्रीय इकाइयाँ शाखाओं, मण्डलों एवं पीठों के रूप में स्थापित हो गई हैं। फिर भी यह तथ्य आज भी अपनी जगह स्थिर है कि कोई किसी के अधीन नहीं है। सबको केन्द्र से सीधा सम्पर्क बनाये रखने का अधिकार है। क्षेत्रीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार परस्पर सहयोग द्वारा संगठित होकर कार्य करने वाली इकाइयाँ श्रेय की पात्र कही जाती हैं। जगह-जगह समर्थ सहयोगी तंत्र भर खड़े करने के प्रयास करना अभीष्ट हैं।

२.**गुरुदीक्षा**-समर्थ गुरुदीक्षा दे सकने योग्य अभी कोई अपना अनुचर हम नहीं छोड़ सके हैं। असमर्थ व्यक्ति यह महान् उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठावेंगे तो उनकी कमर टूट जायेगी और जो उनका आश्रय लेगा वह डूब जायेगा। इसलिए भविष्य में गायत्री मंत्र की गुरुदीक्षा लेनी आवश्यक हो तो लाल मशाल के प्रतीक को ही गुरु बनाया जाय। उस संस्कार संकल्प को कोई भी व्यक्ति करा सकेगा पर वह स्वयं गुरु न बनेगा।

पूज्य गुरुदेव बहुत स्पष्ट कर गये हैं कि जैसे सिक्खों में 'ग्रंथ साहब' तथा रा. संघ में ध्वज को ही गुरुरूप में स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार गायत्री परिवार-युगनिर्माण अभियान के अन्तर्गत 'लाल मशाल' के प्रतीक को ही गुरुरूप में मान्यता दी जाये। युग शक्ति के रूप में अवतरित आदि शक्ति गायत्री की दीक्षा गुरुतत्त्व के इसी प्रतीक के माध्यम से दी जाती रहेगी। इस संदर्भ में यह सूत्र ध्यान देने योग्य हैं-१. दीक्षा गायत्री महाविद्या की कही जायेगी। २. वेदमाता-देवमाता गायत्री को विश्वमाता के रूप में सबके लिए सुलभ बनाने वाले इस युग के विश्वामित्र वेदमूर्ति तपोनिष्ठ युगऋषि पं. आचार्य श्रीराम शर्मा इस विद्या के आचार्य हैं। श्रद्धालुओं को उन्हीं की सूक्ष्म एवं कारण सत्ता का संरक्षण प्राप्त रहेगा और उन्हीं के प्राण, तप एवं पुण्य के अंश ही श्रद्धालुओं में दिव्य चेतना की कलम लगाने जैसे चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करेंगे। ३.**सम्मेलन-यज्ञ**-युग निर्माण सम्मेलन कितने ही विशाल क्यों न ही किये जायें पर उनके साथ जुड़े हुए गायत्री यज्ञ आमतौर से ९ कुण्ड से बड़े न किये जाने चाहिए। जहाँ कोई विशेष कारण हो, अधिक बड़ा यज्ञ करना अनिवार्य हो तो उसे माता भगवती देवी की विशेष स्वीकृति से ही किया जाय। बड़े यज्ञों के जहाँ बड़ा लाभ हैं, वहाँ उनमें बड़ी गड़बड़ियाँ भी देखी गई हैं। इसलिए यह थोड़े कुण्डों का मध्यवर्ती मार्ग अपनाना ही दूरदर्शिता पूर्ण हैं।

यज्ञायोजनों के पीछे पूज्य गुरुदेव के कुछ सुनिश्चित उद्देश्य रहे हैं, जैसे-१. यज्ञीय ज्ञान एवं विज्ञान को लुप्त होने से बचाकर जनोपयोगी बनाना। २. यज्ञायोजनों के माध्यम से जीवन के यज्ञीय अनुशासनों का जन सामान्य को परिचय एवं प्रशिक्षण देना। ३. यज्ञों के साथ जन सम्मेलन करके ज्ञानयज्ञ के माध्यम से विचार क्रान्ति का विस्तार करना।

सामूहिक यज्ञायोजनों से उक्त उद्देश्यों की पूर्ति तो होती रहती है। इसलिए पूज्य गुरुदेव ने अन्ततः समाज को यज्ञीय प्रेरणाएँ देने के लिए दीपयज्ञों सहित सम्मेलनों की परिपाटी चलाने का निर्देश दिया। दीपयज्ञों द्वारा यह उद्देश्य कुण्डीय यज्ञों की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से सम्पन्न होते हैं। कुण्डीय यज्ञों को केवल सामूहिक साधनाओं की पूर्णाहुति के रूप में साथकों द्वारा अपने ही साधनों द्वारा सम्पन्न करने की मर्यादा वे स्थापित कर गये हैं। इन अनुशासनों को ध्यान में रखकर चलने से अवांछनीय प्रतिक्रियों से बचते हुए यज्ञीय जीवन दर्शन का लाभ जन-जन तक पहुँचाया जा सकेगा।

४. यज्ञाचार्यों का अलग पद न रहे। युग निर्माण सम्मेलनों सहित जो यज्ञ होंगे उनका सूक्ष्म रूप में हम संरक्षण करेंगे। फिर इसके लिए किसी-किसी यज्ञाचार्य-ब्रह्मा आदि की जरूरत न रहेगी। जिन्हें विधि विधान ठीक तरह आते हों, उनमें से कोई भी उस कृत्य को प्रसन्नता पूर्वक करा सकता है।

५. जलयात्रा, विसर्जन आदि के जुलूसों में गायत्री माता, लाल मशाल के प्रतीकों को ही सुसज्जा के साथ निकाला जाय। व्यक्तियों का जुलूस

न निकले। इस प्रतिबन्ध से अनावश्यक अहंकार एवं ईर्ष्या, द्वेष को प्रश्रय न मिलेगा।

६. आशीर्वाद वरदान देने मांगने का सिलसिला व्यक्तिगत रूप से न चलाया जाय। ईश्वर और व्यक्ति के बीच में कोई मध्यस्थ न बने। जिनमें सामर्थ्य नहीं, है वे यदि वरदान आशीर्वाद का सिलसिला चलाते हैं तो यह एक ठगी ही होगी। हमारे अनुयायियों में से कोई ऐसी मिथ्या प्रलोभन लोगों को देकर उन्हें भ्रमित करने का प्रयत्न न करे।

७.**दान दक्षिणा**-व्यक्तिगत रूप से कोई दान-दक्षिणा न ले। जिन्हें आवश्यकता है, वे संघ के माध्यम से लें और जिन्हें देना हो वे व्यक्ति को न देकर संघ को दें। इस प्रथा से भिक्षा वृत्ति, परिग्रह, दीनता, तंगी आदि अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ पनपने से रूक जायेंगी।

लोक श्रद्धापूर्वक जो दान देते हैं, उन्हें लोक मंगल के उद्देश्यों में लगाया जाना चाहिए। व्यक्तिगत आवश्यकता पूर्ति के लिए दान लेने की परम्परा ने ही लोकसेवियों को श्रद्धा के पात्र के स्थान पर दया का पात्र बनाया है और उनकी साधना सदाशयता पर प्रश्नचिन्ह लगाये हैं। उक्त अनुशासन को मानकर चलने से लोक सेवियों की प्रामाणिकता बनाये रखकर भी उनने निर्वाह की व्यवस्था सहज ही की जा सकती है। इस अर्थ प्रधान युग में अर्थानुशासन के इस सूत्र को विशेष जागरूकता के साथ अपनाया जाना चाहिए।

पता-

गायत्री तीर्थ शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

(उत्तराञ्चल) २४९४११

फोन: ०१३३४-२६०६०२ फैक्स - २६०८६६